श्रमिक क्षेत्र

के

उपेक्षित पहलू

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

महामंत्री

भारतीय मजदूर संघ

प्रकाशक—
रामनरेश सिंह
महामंत्री
भारतीय मजदूर संघ, उत्तर प्रदेश
२, नवीन मार्केट, कानपुर ।

मूल्य—१० पैसे

मुद्रक—
टिप-टाप प्रिन्टर्स
२४/९१, बिरहानारोड,
कानपुर ।

अनुक्रमणिका

१–राष्ट्र का प्रतिनिधि–उपभोक्ता	१
२–सहकारिता एवं सहकारी आन्दोलन	५
३–'श्रमिक' की परिभाषा	१४
४–अध्यापक समस्या और सरकार का दायित्व	१६
५–कारीगर को कानूनी संरक्षण दिया जाय	२०
६–सर्वाधिक उपेक्षित नागरिक–खेतिहर मजदूर	२३
७–बनवासी मजदूरों की समस्या	३०
८–कार्यकर्ता बनाम कर्मचारी	३४
९–घरेलू नौकर	३९
१०–अपराधी जातियों की समस्या	४३
११–उत्पादकता और मजदूर	४७

दो शब्द

'श्रमिक क्षेत्र के उपेक्षित पहलू' नामक पुस्तक में भारतीय मजदूर संघ के महामन्त्री श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी (एम० पी०) ने श्रमिक क्षेत्र के तमाम उपेक्षित पहलुओं की ओर निर्देश किया है। घरेलू कर्मचारी, जनजातियों के लोग, बनवासी, खेतिहर मजदूर आदि ऐसे उपेक्षित जन-समुदाय हैं जिन्हें स्वराज्य की किरण अभी शायद देखने को भी नहीं मिली। इनके लिये न तो कोई कल्याणकारी योजना है, न सेवा-सुरक्षा के कोई नियम हैं और न इनके हितों की गारण्टी देने वाला कोई कानून है।

पुस्तक में विद्वान मजदूर नेता ने उपेक्षित मजदूर समस्याओं का न केवल स्पष्ट चित्रण ही किया है, वरन् उसके निराकरण के लिये मौलिक व व्यावहारिक सुझाव भी प्रस्तुत किया है।

मजदूर क्षेत्र में अपने ढंग की यह एक अलग की रचना है तथा एक नया दृष्टिकोण है।

रक्षा-बन्धन
१२ अगस्त, १९६५

—प्रकाशक

मजदूर विवाद में

राष्ट्र का प्रतिनिधि "उपभोक्ता"

भारतीय मजदूर संघ ने गत वर्ष सभी औद्योगिक केन्द्रों में उपभोक्ता-सम्मेलनों का आयोजन करके एक नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। बढ़ती हुई मंहगाई की समस्या दिन प्रतिदिन भीषण स्वरूप धारण करती जा रही है। इसके परिणाम स्वरूप रुपये का वास्तविक मूल्य घट रहा है और मजदूरों को 'वास्तविक वेतन' से वंचित होना पड़ रहा है। वेतनभोगी श्रमजीवियों के अलावा बाकी जो गरीब या मध्यमवर्ग के नागरिक हैं उनके आय का भी वास्तविक मूल्य घटता जा रहा है। परिणामस्वरूप बहुसंख्यक जनता अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में आज असमर्थ है। सभी उपभोक्ताओं के लिये चाहे वे वेतनभोगी हों या अन्य, यह समस्या भीषण बन गयी है। यहां तक कि इस वर्ष (६५-६६) के बजट ने भी उपभोक्ताओं को किसी भी तरह की राहत नहीं दी है। यह दावा किया गया है कि सत्ता के हस्तान्तरण के पश्चात किसी भी वर्ष इतना कम कष्ट दायक बजट पेश नहीं हुआ। पर इसमें गत वर्ष की तुलना में उपभोक्ताओं को प्रसन्नता देने वाली और उनका बोझ कम करने वाली एक भी बात नहीं है। बेरोजगारी को कम करने की भी कोई व्यवस्था नहीं है। उपभोक्ताओं की दृष्टि से इस बजट के बारे में यही कहा जा सकता है कि "वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी वो अब भी है।"

एक नया मञ्च

वेतनभोगी कर्मचारी तथा अन्य सामान्य नागरिक दोनों के लिए समान संकट के रूप में यह समस्या खड़ी हो गई है। इसलिए भारतीय मजदूर संघ ने यह निर्णय किया है कि सभी उपभोक्ताओं को—चाहे वे मजदूर हों या अन्य कोई भी—समान मांग के लिये इस अवसर पर एक मंच पर लाया जाय।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विस्मरण

इस निर्णय के कारण भारत की आर्थिक समस्या का एक और महत्वपूर्ण पहलू हमारे सामने उपस्थित है, यद्यपि इस पहलू पर सबका ध्यान आकृष्ट करना ही इन उपभोक्ता सम्मेलनों का प्रमुख उद्देश्य नहीं है। भारत में आज का औद्योगिक ढांचा बहुतांश अभारतीय पद्धति का है। अभारतीय ढांचे ने अपने साथ औद्योगिक सम्बन्धों में अभारतीय स्वरूप को भी लाया है। उसको नियमित करने के लिये अभारतीय अर्थात पश्चिमी और विशेषरूप से ब्रिटिश कानून के आधार पर हमने अपना औद्योगिक कानून बनाया है। इन सब बातों का संग्रहित परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक सम्बन्धों के सभी पक्षों में मानसिक संतुलन का, अर्थात सर्वंकष राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव है। मालिक तथा मजदूर, दोनों अपने-अपने ही हितों का विचार करने में लगे हैं। संपूर्ण राष्ट्र के हितों का विचार आंखों से ओझल हो गया है। हर एक औद्योगिक विवाद में केवल मालिक और मजदूर ये दो ही पक्ष नहीं रहते, वरन् उसमें तीसरा भी एक पक्ष रहता है जो दोनों से अधिक महत्वपूर्ण है और वह है उपभोक्ता अर्थात राष्ट्र किन्तु यह बात सभी भूल गये हैं। औद्योगिक विवाद की ओर देखने का कोई 'राष्ट्रीय दृष्टिकोण' हो सकता है आज इसका विस्मरण हुआ है। मालिक अपने स्वार्थ की दृष्टि से और मजदूर अपने बचाव की दृष्टि से विवाद की ओर देखने लगे हैं। 'राष्ट्र' इस नाते भी कोई दृष्टिकोण है यह बाकी नागरिक भी भूल गये हैं। अतः औद्योगिक समस्याओं का सुलझाव राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से होना चाहिये यह विचार आज अव्यवहार्य तथा अवास्तविक प्रतीत होने लगा है। सोचा यह गया है कि औद्योगिक विवाद यह एक अलग बात है और राष्ट्र अलग बात है। दोनों की परिधि भिन्न है, अर्थात् एक दूसरे से संबंधित नहीं।

एक राष्ट्रीय आर्थिक इकाई

औद्योगिक विवादों में राष्ट्र का सम्पूर्ण नहीं तो बहुत मात्रा में प्रतिनिधित्व करने वाली आर्थिक इकाई है 'उपभोक्ता'। वैसे तो राष्ट्र की स्वयं अपनी अस्मिता है।

राष्ट्र के अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों के हित संबंधों के समूह को राष्ट्रीय हित संबंधों की निकटतम इकाई तो माना जा सकता है किन्तु वास्तव

में राष्ट्रीय हित संबंध सभी व्यक्तियों के हित संबंधों के समूह से भी कुछ अधिक है तथा उसके भी ऊपर है। किन्तु व्यवहारिक सुविधा के लिये सभी व्यक्तियों के सामूहिक हित को राष्ट्रीय हित का निकटतम पर्याय समझा जा सकता है। इस दृष्टि से 'उपभोक्ता' यह एक ऐसी आर्थिक इकाई है कि जिसका हित अर्थात् राष्ट्रीय हित का सबसे निकटतम पर्याय समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, सभी उपभोक्ताओं के सम्पूर्ण, सामूहिक हितों के साकल्य से भी कुछ अधिक अर्थात् राष्ट्रीय हित है। तो भी साधारणतः अपवादात्मक परिस्थितियों का विचार छोड़ दिया जाय तो उपभोक्ताओं का हित ही लगभग राष्ट्रीय हित का पर्यायवाची है–यह कहना अनुचित न होगा। इस तरह राष्ट्रीयता की दृष्टि से 'उपभोक्ता' यह महत्वपूर्ण इकाई है।

यह घातक उदासीनता

दुर्भाग्य की बात है कि 'उपभोक्ता' भावना की जागृति का आज सम्पूर्ण देश में अभाव है। किसी भी औद्योगिक विवाद का 'उपभोक्ता' इस नाते हमारे ऊपर क्या असर पड़ेगा यह सोचने की किसी को इच्छा तक नहीं होती। 'उपभोक्ता' भाव व्यावहारिक अर्थ से देश में सुप्तावस्था में है। इसीलिये निजी पूंजीवाद के अंतर्गत पूंजीपतियों ने उपभोक्ता विरोधी नीतियां अपनाई तो उपभोक्ता उसका विरोध नहीं करता; वैसे ही उद्योगों के सरकारीकरण के पश्चात् सरकार द्वारा उपभोक्ता विरोधी कार्यवाही हुई तो उसके भी विषय में वह उदासीन ही रहता है। किसी विवाद में अपनी संगठन शक्ति के आधार पर मजदूरों ने कभी उपभोक्ता विरोधी सामूहिक सौदा किया तो उसके विषय में भी तटस्थ ही रहता है। इसी कारण किसी भी औद्योगिक मामले में 'राष्ट्र' यह भी एक संबंधित और सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है– इसका मालिक तथा मजदूरों को स्मरण नहीं होता। यह 'उपभोक्ता' भाव जागृत रहे तो मालिक तथा मजदूरों को राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुये ही अपनी–अपनी नीतियां तय करनी पड़ेंगी।

राष्ट्रीय भाव का संरक्षक

वैसे तो राष्ट्रवादी मालिक, राष्ट्रवादी मजदूर तथा राष्ट्रवादी उपभोक्ता, तीनों के विचार सभी औद्योगिक प्रश्नों पर एक जैसे ही होने चाहिये किन्तु

राष्ट्रीय जागृति के अभाव में किसी भी पक्ष में अराष्ट्रीय पक्षगत स्वार्थ का प्रादुर्भाव हुआ तो 'उपभोक्ता' भाव की जागृति के प्रभाव से उसे फिर से राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर लाना संभव होगा ।

इस अर्थ में 'उपभोक्ता' भाव की जागृति यह राष्ट्रीय जागृति का निकटतम आर्थिक पर्याय है ।

'उपभोक्ता' जागरण का प्रारम्भ भी इन उपभोक्ता सम्मेलनों के द्वारा हुआ तो एक महान् राष्ट्रीय कार्य का सूत्रपात हुआ, ऐसा समझा जायेगा ।

सहकारिता एवं सहकारी आन्दोलन

सहकारी संस्था की सफलता का क्या आधार है ? कोई कहेंगे '*Credit*' परन्तु मैं समझता हूं कि यह अर्धसत्य है। केवल '*Credit*' के भरोसे कोई संस्था सफल नहीं होती। इसके साथ चारित्र्य का भी योग होना चाहिए। वास्तव में मैं तो चारित्र्य को ही सबसे बड़ा 'क्रेडिट' मानता हूं।

सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश

सहकारी संस्थाओं तथा इस आन्दोलन का ध्येय क्या है ? स्थानीय क्रिया-शीलता के विकास को अवसर मिले, आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, लोकतंत्र के अन्तर्गत सुनियोजित प्रगति के लिए एक दृढ़ आधार प्राप्त हो—इन्हीं उद्देश्यों को लेकर हमारे नेताओं ने सहकारिता आन्दोलन का प्रसार एवं विस्तार करने का निश्चय किया है। परन्तु भारत में इस आन्दोलन का सूत्रापात जिन्होंने किया उनके सम्मुख प्रधानतः ग्रामीण विभाग का कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित समाज ही था—यह स्पष्ट है। किसानों पर कर्ज का निरन्तर बढ़ता हुआ बोझ और परिणामतः उनकी दिनोदिन गिरती हुई आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए, एक तो उन्हें बाहरी सहायता देने की व्यवस्था, और दूसरे उनमें ही मितव्ययिता, स्वावलम्बन, दूर-दृष्टि आदि जैसे गुणों का विकास करने के प्रयत्न एवं विधि उपायों की अपरिहार्यता का विचार करते हुये माननीय श्री गोपालकृष्ण गोखले ने सन १९०४ में सहकारी क्रेडिट संस्थाओं सम्बन्धी पहिला विधेयक तत्कालीन इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल द्वारा पास कराया। बस यहाँ से इस आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। किसानों की आर्थिक परिस्थिति सुधारने के मूल उद्देश को लेकर यह आन्दोलन अस्तित्व में आया और हम यह देखते हैं कि आज भी सहकारी संस्थाओं में सबसे बड़ी संख्या किसी वर्ग की होगी तो—वह है कृषक वर्ग।

सत्ता हस्तान्तरण से पहिले इस आन्दोलन को सरकार की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इसमें सन्देह नहीं कि 'इण्डियन सिविल सर्विस' के कुछ उच्च पदाधिकारियों से इस आन्दोलन को योगदान मिलता रहा। परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण उनके उदाहरण अपवादात्मक ही थे। सत्ता हस्तान्तरित होने के उपरान्त 'सहकारिता सिद्धान्त' के नए नाम से वर्तमान शासन ने सहकारी तत्वों को स्वीकार किया और ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित कृषि सम्बन्धी संस्थायें ही नहीं बल्कि नगर विभाग के उद्योग धंधों से सम्बन्धित सहकारी संस्थाओं का निर्माण भी द्रुतगति से होने के लिये नई नई योजनाएं बनीं।

कृषि-व्यवसाय व तद्वत् उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित अन्यान्य प्रक्रियाओं के लिये भिन्न २ सहकारी संस्थाओं की स्थापना के लिये तथा साथ ही साथ गृह-निर्माण श्रमिक समुदाय आदि जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहकारी संस्थायें खोलने के प्रयत्न सर्वत्र होने लगे। शनैः शनैः सहकारी क्षेत्र की परिधि में विविध कार्यों का समावेश होने लगा। इस आन्दोलन के प्रगति की ग्रामीण विभाग में भी काफी सन्तोषप्रद होने की खबरें अखबारों में छपने लगीं। पहली दो पंच वर्षीय योजनाओं की कालावधि में प्राथमिक एग्रिकल्चरल क्रेडिट सोसाइटीज की संख्या १०५००० से बढ़कर २,१०,००० हो गई तथा सदस्य संख्या ४४ लाख से बढ़कर १ करोड़ ७० लाख तक जा पहुँची है—यह बात अधिकृत रीति से बतलाई जाती है। इसी कालावधि में प्राथमिक कृषि सहकारी संस्थाओं द्वारा दिए गए कुल कर्ज की रकम २३ करोड़ रुपयों से बढ़कर लगभग २०० करोड़ रु० तक पहुँचने की खबरें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। औद्योगिक सहकारी आन्दोलन में भी हाथ करघा उद्योग, रस्सी-निर्माण उद्योग तथा अन्य कुटीरोद्योगों की दृष्टि से समाधानकारक प्रगति होने की बातें भी सुन रहे हैं।

केवल प्रचार ही प्रचार

इस आन्दोलन पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक खर्च किये जाने की घोषणा सरकार द्वारा की गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन के लिये ३४ करोड़ रुपये खर्च किये गये। तीसरी योजना में इसी काम के लिए ८० करोड़ रुपये देने का संकल्प घोषित हो चुका है। परन्तु यह सब बातें प्रकाश में आने पर भी, सहकारिता आन्दोलन भारत में सफल हुआ है—यह जोर देकर कहने की गुंजाइश नहीं है। जिन प्रश्नों का हल करने की आशा संजोए हुए इस आन्दोलन

की नींव डाली गई, उस प्रश्न के किनारे पर भी हम अब तक नहीं पहुंच पाये हैं— यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। सहकारी आन्दोलन के नाम पर होने वाला सारा खर्च, सहकारिता तत्वप्रणाली की सफलता के लिये ही हुआ है, यह बात छाती ठोक कर कोई नहीं कह सकता। इस आन्दोलन की सफलता के लिये आवश्यक स्वयंस्फूर्तता, परस्पर घनिष्ठता, पारस्परिक कर्त्तव्यों की जानकारी, पारस्परिक सामञ्जस्य, सामाजिक दायित्व की भावना, राष्ट्र की प्रगति के लिये व्यग्रता आदि बातें हम इस काल में निर्माण करने में सफल न हो सके। यही कारण है कि बेशुमार सरकारी खर्च और प्रचार होने पर भी, आज हमें बाध्य होकर यह कहना पड़ता है कि भारत में सहकारिता आन्दोलन में सहयोग का नितान्त अभाव है।

भारत की सहकारी समितियां

आज हमारे यहां लगभग ३,५०,००० सहकारी संस्थाएं हैं, जिनकी सदस्य संख्या ४।।। करोड़ है और प्रदत्त पूंजी लगभग ३७५ करोड़ रुपये और कुल कार्यवाहक पूंजी २०७१ करोड़ रुपये हैं। इनमें ४८ चीनी की मिलें, २.७६ लाख खेती उधार समितियां, ३५००० बुनकर समितियां, ४२०० उपभोक्ता स्टोर और ४०६ बैंक हैं। सरकार ने इन समितियों को कम ब्याज की दर पर उधार पूंजी, करों में छूट तथा अन्य सुविधाएं प्रदान कर रखी हैं। इसलिये लोगों ने सहकारी संस्थाओं का गठन करके दुग्ध वितरण केन्द्र, सिनेमा हाउस, ट्रांसपोर्ट, होटल आदि विविध काम भी शुरू कर दिये हैं।

महाराष्ट्र, गुजरात तथा मद्रास की कुछ कोआपरेटिव सोसाइटियों ने बहुत ही अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। महाराष्ट्र में तो बीसियों चीनी की मिलें, तेल मिलें, बैंक और स्पीनिंग मिलें आदि सुव्यवस्थित ढंग से सहकारिता क्षेत्र में चल रही हैं। जिनसे किसानों को लाभांश के सिवा कच्चे माल आदि के दाम भी ऊंचे मिलते हैं। इसी प्रकार गुजरात में 'अमूल' नामक बहुत बड़ी कोआपरेटिव संस्था है जिसके हजारों सदस्य हैं और जहां सैकड़ों गांवों से दूध एकत्रित किया जाता है और उनकी वस्तुओं की बाजार में अच्छी साख है। इसी प्रकार मद्रास में भी हाथ करघों की तथा अन्य प्रकार की बहुत सी सहकारी समितियां हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त देश की अधिकतर सहकारी समितियों की स्थिति सन्तोष-जनक नहीं है और ये हर प्रकार के पक्षपात, गबन, संचालकों की मुनाफाखोरी और कुप्रबन्ध की द्योतक है।

कुछ वर्ष पहले आसाम और बंगाल में दो चीनी की मिलें सहकारिता के क्षेत्र में लगाई गयी थी जिनमें प्रायः २ करोड़ रु० सरकार के लगे, परन्तु इन दोनों कारखानों की कार्यक्षमता का दसवाँ हिस्सा भी उत्पादन नहीं हो पाता। क्योंकि उस क्षेत्र के गन्ने की खेती की कमी पर ध्यान न देकर वहाँ के प्रभावशाली विधान सभा के सदस्यों या स्थानीय नेताओं के दबाव में आकर कारखाने बैठा लिये गये। इन दोनों में ही प्रति वर्ष ब्याज और घिसाई को छोड़ कर भी बहुत बड़ी हानि हो रही है। बंगाल की मिल के बारे में तो यह भी सुना जाता है कि उसे वहां से हटाकर किसी दूसरी जगह ले जाया जायगा।

नकली सहकारी समितियाँ

दूसरी ओर विभिन्न प्रान्तों में लाखों बिजली के करघे (पावरलूम) जिनका लाइसेन्स केवल सहकारी समितियों को ही मिलता है, मुनाफे में अवश्य चल रहे हैं, परन्तु वहां सहकारिता नाम मात्र को है। इसमें खाना-पूर्ति के रूप में कुछ आदमियों के नाम देकर कृत्रिम (नकली) समितियों की रचना कर ली जाती है परन्तु कारोबार निजी ही होता है।

सहकारी समितियों के घोटाले

पिछले वर्ष दिल्ली और राजस्थान की सहकारी समितियों में गुड़ के घोटाले की समाचार पत्रों में बड़ी चर्चा थी, परन्तु उनके मुख्य संचालकों के प्रभाव से वह मामले वहीं पर दब गये।

इसी प्रकार तीन वर्ष पहले जब बिहार में घटिया और सस्ते पाट के भाव १४ रुपये प्रति मन के नीचे चले गये थे तब केन्द्रीय सरकार ने वहां कोआपरेटिव सोसाइटियों को निरन्तर मूल्य स्थिर रखने और कृषकों की सहायता के लिए २२ रुपये प्रति मन तक पाट लेने का आदेश दिया। सरकार को तो २२ रुपये प्रति मन से भी ज्यादा दाम पड़ गये, क्योंकि भीगा हुआ और धूल भरा पाट लेकर रख दिया गया परन्तु कृषकों को १४–१६ रुपये प्रति मन से अधिक दाम नहीं मिले। इस घोटाले की जांच करवाने की बात थी परन्तु पता नहीं, क्यों वह भी वहीं दब गयी।

इन सहकारी संस्थाओं को अन्य सुविधाओं के साथ सबसे बड़ी सुविधा है कि ४ से ६ प्रतिशत ब्याज की दर पर सरकार से बड़े पैमाने पर पूंजी का

उधार मिलना। जब कि आज साधारण व्यापारी को १२ से १५ प्रतिशत ब्याज देने पर भी पर्याप्त पूंजी नहीं मिल पाती। जहां दूसरे कारखानों का यह ४०-५० प्रतिशत मिलती है वहां कोआपरेटिव सोसाइटियों को ८०-९० प्रतिशत है।

जांच के निष्कर्ष

इन सब सुविधाओं के बावजूद मद्रास की कोआपरेटिव सोसाइटियों की जांच में यह पाया गया था कि केवल ३७ प्रतिशत ही थोड़ा बहुत कमा रही हैं जबकि ६३ प्रतिशत हानि दिखा रही हैं। इसी प्रकार दिल्ली की २००० कोआपरेटिव सोसाइटियों की जांच हुई जिनमें यहां की ८० प्रतिशत के हिसाब से गड़बड़ी पाई गई और वे घाटे में चल रही थीं।

अनियमितताएं

९ मार्च १९६५ को लोकसभा के एक प्रश्न के उत्तर से सरकार ने कई सरकारी समितियों की जांच का विवरण सभा-पटल पर रखा जिसके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—इन सारी की सारी समितियों ने कानून का उलंघन कर अपने संचालकों को रुपया उधार दिया था।.

२—किसी-किसी में सदस्य-रजिस्टरों की खाना-पूर्ति झूठी कर दी थी।

३—बिना प्रबन्धक समिति के राय के व्यय दिखा दिया गया।

४—हिसाब की बहियां ठीक नहीं रखी गयीं आदि-आदि।

कहा जाता है कि यहां की एक बड़ी कोआपरेटिव सोसाइटी ने पिछले वर्ष लाखों रुपये की टिन की चद्दरें दुगुने दामों में काले बाजार में बेंच दी और यह बात पुलिस की जांच से भी सिद्ध हो गई परन्तु मुख्य संचालकों को सरकार ने उनके राजनीतिक प्रभाव के कारण रिहा कर दिया जब कि साधारण कर्मचारियों और पदाधिकारियों पर जांच जारी है। इस बारे में संसद में कई बार प्रश्नोत्तर हुये हैं, परन्तु सरकार स्पष्ट रूप से जवाब नहीं दे रही है।

सहकारिता मन्त्रालय

केन्द्र के सिवाय हर प्रांत में सहकारिता मन्त्रालय भी है जिन पर सरकार द्वारा लगभग २० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष खर्च हो रहे हैं। ये मन्त्रालय यह जानते

हुये भी कि ज्यादातर सहकारी समितियां नियमानुसार नहीं चलतीं और इनमें बहुत प्रकार के दोष आ गये हैं, इनकी ओर से आंखे मूंदे हुए हैं। यही नहीं, आये दिन समाचार पत्रों तथा सभाओं द्वारा इन समितियों की बड़ाई करते रहते हैं क्योंकि उनके संचालकों का राजनीतिक प्रभाव होता है और इनको इस बात की आशंका बनी रहती है कि यदि वे सहकारी समितियों के अनुचित कार्यों को बताने लगे तो शायद देश और संसद उसे बर्दाश्त न करे और इस विभाग के खर्चे में कटौती करदे।

सहकारिता आन्दोलन यद्यपि बहुत ही आवश्यक और सर्वसाधारण के लिए हितकर है परन्तु जिस प्रकार से इन समितियों का संचालन आज हमारे यहां हो रहा है, उससे गरीब जनता और कृषकों को तो लाभ है ही नहीं—परन्तु इसके विपरीत जो साधारण स्थिति के दूकानदार और व्यापारी हैं उनके लिए इन सोसायटियों के मुकाबिले में काम करना मुश्किल हो गया है।

सहकारी समितियां सही तरीके से चलाई जायं तो राजनीतिक और आर्थिक जनतन्त्र का आधार बन सकती हैं लेकिन अगर ये गलती या बेईमानी करें तो जनतन्त्र के लिए घातक भी सिद्ध होती हैं। सहयोग और सहकारिता में जनता का विश्वास बढ़ाने के बजाय इस प्रकार की समितियाँ अविश्वास पैदा करती हैं और अपने कारनामों (कुकृत्यों) से राजनीतिक और आर्थिक एकाधिपत्य के लिए वातावरण तैयार करती हैं। इसलिये यह उचित है कि यदि हम सहकारिता का कार्य करना चाहते हैं तो उसे अच्छे और सुव्यवस्थित रूप से करें अन्यथा आज के रवैये से तो एक अच्छी पद्धति को व्यर्थ बदनाम होने का मौका दे रहे हैं।

सहकारिता ही भारतीय पद्धति

'सहकारिता' भारत के लिये कोई नवीन बात नहीं है। इसके बीज हमारे यहां सहस्त्रों वर्षों से चली आ रही संयुक्त परिवार प्रणाली में विद्यमान हैं। खेती या अन्य व्यवसाय में संलग्न प्रत्येक संयुक्त परिवार इकाई एक प्रकार से सहकारी समिति का ही दूसरा रूप था जिसमें परिवार का प्रत्येक छोटा-बड़ा सदस्य कोई न कोई काम करता रहता था और घरका सबसे बड़ा व्यक्ति संचालक माना जाता था। उस समय यह भी एक आम रिवाज था कि लड़की या लड़के के विवाह में गांव के हर परिवार द्वारा न्यौते या तिलक में नकद या वस्तु के रूप में कुछ न

कुछ दिया जाता था। इस प्रकार विवाह के खर्च का सारा बोझ सारे गांव के घरों में बंट जाता था। साधारण स्थिति के घरों में ऐसे अवसरों पर आपस में गहनों और वस्तुओं को एक दूसरे के यहां से उधार मांगने में किसी प्रकार का संकोच नहीं माना जाता था। भोज आदि के अवसरों पर मिठाई बनाने या अन्य व्यवस्था के लिये भी गांव वाले स्वयं अपना-अपना काम परस्पर बांट लेते थे जिससे विवाह शादी जैसे बड़े-बड़े कार्य भी सहकारिता के कारण सहज हो जाते थे। इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति परदेश कमाने के लिये जाता था तो गांव के लोग उसे विदाई के रूप में कुछ न कुछ देते थे। आज भी ये प्रथाएं छोटे कस्वों और गांवों में वर्तमान हैं और सहकारिता के सुन्दर उदाहरण हैं। वास्तव में सहकारी आन्दोलन में निहित तत्व एवं उसकी अनुगामी मनःप्रवृत्ति पूर्णतः भारतीय है। रक्त और परम्परा के आधार पर व्यक्ति–विकास एवं सामाजिक अनुशासन का परस्पर सम्बन्ध के कारण विज्ञान-विशुद्ध आधार पर समुद्भूत हुई स्वाभाविक कोआपरेटिव सोसाइटी ही तो हिन्दू समाज-रचना है। इतनी प्रगत तथा वैज्ञानिक समाज-रचना की कल्पना भी पाश्चात्य देशों के निवासी नहीं कर पाये। इसीलिये उन्हें उनकी समाज-रचना में जो मूलभूत अभाव या त्रुटियां रह गई हैं, उन्हें दूर करने के लिये ही सहकारिता आन्दोलन, सामाजिक सुरक्षा–व्यवस्था आदि जैसे कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करना पड़ा। तथापि उन्हें इस कार्य के लिये उचित श्रेय देते हुये हमें यह स्वीकार करना होगा कि इस योजना को हाथ में लेने के बाद, उसे सफल करने के लिये उन्होंने प्रयत्नों में कोई कोर-कसर नहीं रखी।

पाश्चात्य देश में सहकारी संस्थायें

फ्रान्स, स्वीडन, हालैण्ड, बेल्जियम आदि देशों में गृह निर्माण कार्य में सहकारिता आन्दोलन की प्रगति, संयुक्त राज्य अमरीका, आयरलैण्ड, कनाडा व जर्मनी में इस आन्दोलन के आधार पर हुई ग्रामीण विभागों की सेवा, मेक्सिको के समाचार-पत्र व्यवसाय के श्रमिकों की उत्पादक सहकारी संस्था के विविध कार्य और इजराइल जैसे एक नवोदित राष्ट्र में सहकारिता आन्दोलन के कारण हुई चतुर्दिक प्रगति आदि का समुचित अध्ययन हमारे सहकारी क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के लिये सचमुच बोधप्रद एवं मार्ग दर्शक होगा। इजराइल की Kibbutz नाम से परिचित सहकारी संस्था वास्तव में एक आदर्श सहकारी संस्था है। यहां तक कि

सन् १९५५-५६ में समूचे संसार के सहकारी संस्था से सम्बन्धित लोगों की कुल संख्या १५ करोड़ थी।

ऐतिहासिक विकासक्रम के परिणाम के रूप में भारत में प्रसूत हुए सहकारी आन्दोलन की रूपरेखा इंग्लैण्ड के नमूने पर बनाई गई। औद्योगिक क्षेत्र की स्पर्धा से संत्रस्त हुये लोगों ने अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण तथा उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध में इस आन्दोलन का सूत्रपात किया। सन् १८४४ में Rochdale Pioneers ने जिस चतुः सूत्री के आधार पर अपना स्टोर खोला, आश्चर्य की बात यह है कि वही सूत्र आज भी सर्वत्र उपयुक्त जान पड़ते हैं। खुली सदस्यता, प्रति सदस्य एक मत के तत्वानुसार लोकतांत्रिक नियंत्रण, पूंजी पर सीमित ब्याज और व्यवहार (लागत) के अनुपात में लाभांश का वितरण—बस यही वे चार गुर हैं। सन् १९१७ में इस आन्दोलन का पार्लियामेंट में हित सम्बन्ध बनाये रखने के उद्देश्य से एक कोआपरेटिव पार्टी भी बनी। इंग्लैण्ड में सहकारी आन्दोलन को अच्छी सफलता मिली। इस सिलसिले में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सहकारिता आन्दोलन को इतना सफल कर दिखाने वाले इंग्लैण्ड जैसे देश में सहकारिता के नियमों सम्बन्धी कोई संहिता अस्तित्व में नहीं है।

रूस के कलखोज

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में रूस की क्रान्ति के पश्चात वहां वैयक्तिक सम्पत्ति और खेती को समाप्त कर दिया गया। सारे उद्योग तो सरकारी क्षेत्र में ले लिये गये और खेती के लिये एक नये प्रकार की कृषि पद्धति स्थापित की गई। जिन्हें वहां 'कलखोज' कहते हैं। इन कलखोजों को स्थापित करने के लिये नाना-प्रकार के झगड़े हुए और उनको दबाने के लिए लाखों व्यक्तियों की हत्या कर दी गयी। कुछ वर्षों तक लोगों में नये-नये जोश या भय के कारण इसमें सफलता मिली, परन्तु दस वर्ष पहिले जब श्री क्रुश्चेव ने रूस की बागडोर संभाली तो उन्होंने महसूस किया कि इस प्रकार के कलखोज सफल नहीं हो रहे हैं और पंचवर्षीय योजना के अनुसार देश का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। १९६० तक लोगों को देहातों में अपनी निजी खेती करने के लिए थोड़ी-थोड़ी जमीन दे दी गयी थी और उस जमीन में जो वस्तुयें पैदा होतीं उनको स्वयं बिक्री करने का अधिकार भी दे दिया गया था। इन जमीनों की उपज कलखोजों की अपेक्षा कहीं-कहीं तो दुगुनी से भी अधिक होती है।

हम अपनी समाज रचना का स्मरण करें

इस आन्दोलन की दृष्टि से भारत में समुचित नियमों तथा सरकारी प्रोत्साहन का तो कोई अभाव नहीं, परन्तु सफलता का अभाव निःसन्देह खटकता है। इसका कारण क्या है ?

वास्तव में हमारी हिन्दू समाज-रचना ही एक शास्त्र-पूत *Co-operative Common wealth* है—इस सत्य को हम भुला बैठे हैं और पाश्चात्य देशों से ऐसे प्रभावित हो गये हैं कि 'उनका सब अच्छा, और हमारा सब त्याज्य'—ऐसी हम एक मिथ्या धारणा बना बैठे हैं। इससे एक ओर तो हम अपनी समाज रचना के मूलभूत तत्वों पर ही कुठाराघात कर रहे हैं—तो दूसरी ओर पाश्चात्य प्रणाली की नई नई संस्थाओं की कल्पनाओं को प्रत्यक्ष व्यवहार में उतारने की क्षमता भी आत्मविस्मृत होकर खो बैठे हैं। इस प्रकार अपना पुराना घर गिराने के प्रयत्न में हम नया मकान बनाने की क्षमता ही खो बैठे हैं। हमारी सामाजिक स्थिति इसीलिये आज *'Unbourn tomorrow and dead yesterday'* जैसी हुई है। इसका एक अपरिहार्य परिणाम है, सहकारिता आन्दोलन में हमारी असफलता।

इसी पार्श्व भूमि पर अब हमें इस सहकारी संस्था के कार्य का विचार करना होगा। संस्था भले ही छोटी हो, उसके कार्यों का महत्व बहुत बड़ा है। सहकारिता की सफलता की एक *Test case* के रूप में हमें इस संस्था की ओर देखना चाहिये। हिन्दू मूल्यों से संलग्न रहकर आप बहुत बड़ी सफलता प्राप्त कर सकेंगे। पाश्चात्य या पौर्वात्य किसी भी सहकार मनीषियों के सफल प्रयत्नों का इतिहास यदि पढ़ें तो आप निश्चित ही इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि उनके उद्योगों और अध्यवसाय के साथ जो तत्व तथा वृत्ति थी वह हिन्दू समाज रचना के तत्वों तथा वृत्ति से मिलती जुलती थी। अपने परम्परागत रीति की इस दृढ़ नींव पर यदि हम अपने सहकारिता आन्दोलन का निर्माण करें तो इसमें सन्देह नहीं कि इस संस्था को सम्पूर्ण रूप से सफलता मिलेगी।

'श्रमिक' की परिभाषा

दास कमीशन की सिफारिशें प्रकाशित होने के पश्चात 'श्रमिक' की परिभाषा के विषय में पुनर्विचार को चालना मिली है। दास कमीशन ने रु० ६००/- से रु० ७२००/- तक प्रतिमास पाने वाले वेतन भोगियों के महगाई भत्ते के विषय में कुछ सुझाव दिये पर सरकार ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। तो भी यह प्रश्न सबके मन में जागृत हुआ कि इस श्रेणी में आने वाले कर्मचारियों को श्रमिक कानून के संरक्षण से वंचित क्यों रखा जाता है ?

अब तक माना जाता था कि कानून की दृष्टि से हर एक श्रमजीवी 'श्रमिक' नहीं है। 'श्रमिक' बनने के लिये तीन शर्तें रखी गईं। एक तो वह 'वेतन भोगी' होना चाहिये। दूसरी बात यह कि उसका वेतन प्रतिमास रु० ५०० से अधिक न हो और तीसरी बात यह कि उसके काम का स्वरूप व्यवस्थापकीय न हो।

इसमें एक बात सबके ध्यान में आने लगी कि रु० ५००/- तक की मर्यादा किसी विशेष तर्क के आधार पर निश्चित नहीं की गई। रु० ५००/- से अधिक वेतन पाने वाले लोगों को भी 'श्रमिक' कानून लागू करना न्यायोचित रहेगा। इसी दृष्टि से एअर पायलटों को 'श्रमिक' की परिभाषा की परिधि में शामिल किया गया है जबकि उनका वेतन प्रतिमास औसत रु० ३५००/- रहता है।

रिजर्व बैंक में प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या कर्मचारी यूनियन *Class II* के कर्मचारियों के विषय में अधिकृत रूप से कुछ मांग रख सकती है ? वैसे तो ये कर्मचारी यूनियन की परिधि के बाहर ही रहते हैं। क्योंकि, उच्च वेतन पाने के कारण उन्हें कानून 'श्रमिक' नहीं समझता। अतः वे यूनियन के सदस्य नहीं बन सकते किन्तु एक तर्क यह प्रस्तुत किय गया कि *Class III* के कुछ कर्मचारी ऐसे हैं जो कुछ समय के पश्चात् *Class II* में प्रविष्ट होंगे। *Class II* की सेवा की शर्तों तथा वेतन श्रेणियों में इन *Class III* कर्मचारियों को स्वाभाविक रूप से हमदर्दी रहती है क्योंकि आगे चलकर वही सेवा की शर्तें तथा वेतन श्रेणियां उनपर लागू होने वाली हैं। अतः *Class III* कर्मचारी तथा उनकी यूनियन—इनको पूरा अधिकार है—*Class II* के विषय में सोचने का, राय प्रकट करने का

तथा मांगें रखने का। क्योंकि आज के यूनियन के सदस्य *Class III* कर्मचारी कल के (*Prospective*) *Class II* कर्मचारी हैं।

इस तर्क से तो *Class III* तथा *II* में 'श्रमिक' की परिभाषा की दृष्टि से किये हुये भेद की कृत्रिमता अधिक स्पष्ट हो जाती है।

'व्यवस्थापकीय स्वरूप का काम' यह बात भी काफी गोलमाल है। कई औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थानों में कम वेतन पाने वाले *Managers* नियुक्त किये जाते हैं। ये नाम के लिये केवल *Managers* रहते हैं। वैसे, वे व्यवस्था (*Management*) के अंगभूत नहीं रहते। वे भी सच्चे अर्थ में कर्मचारी ही रहते हैं। हाँ, कुछ कर्मचारियों पर थोड़ा अधिकार वे चला सकते हैं। तो भी, इनके काम का स्वरूप कर्मचारी के ही समान होता है। उन्हें मैनेजमेंट का अंग बनाना–यह उनसे मखौल करना ही होगा। कई बार गलत संज्ञा (*Designation*) के कारण अन्याय होता है। जैसे, रोड ट्रान्सपोर्ट अधिकारियों को उनके उचित अधिकारों से वंचित रखने के लिये कभी-कभी मैनेजर यह संज्ञा दी जाती है। मैनेजर के नाते घोषित बहुसंख्य–विशेष रूप से छोटे कर्मचारी वास्तविकतः 'मैनेजर' नहीं होते कर्मचारी ही होते हैं। अतः केवल संज्ञा नहीं, अपितु कार्य का प्रत्यक्ष स्वरूप ही 'व्यवस्थापकीय' तत्व की कसौटी समझी जानी चाहिये।

वैसे तो, अवेतन भोगी श्रमजीवियों को 'श्रमिक' संज्ञा की परिधि के बाहर रखना आक्षेपार्ह तथा अवास्तविक है। केवल वेतन भोगियों का ही प्रश्न लिया तो उनके भी विषय में पुनर्विचार की आवश्यकता है। 'श्रमिक' की परिधि का आधार वेतन स्तर न रखते हुए कार्य का स्वरूप रखना चाहिये। आगामी काल में इसकी विशेष आवश्यकता है। क्योंकि, अब तक हम कर्मचारियों की तीन श्रेणियां मानते थे,–अप्रशिक्षित, अर्द्ध प्रशिक्षित तथा प्रशिक्षित। किन्तु अब तन्त्रशास्त्र (*Technology*) का विस्तार हमें अभिप्रेत है। इसके फलस्वरूप विशेष-प्रशिक्षित कर्मचारियों का वर्ग निर्माण होगा और क्रमशः इस वर्ग की संख्या में वृद्धि होगी। इनका वेतन इनकी योग्यता के अनुकूल, अर्थात् अधिक रहेगा। तो भी कार्य का स्वरूप कर्मचारियों के ही समान रहेगा। इन्हें 'श्रमिक' के नाते प्राप्त होने वाले सभी कानूनी अधिकार तथा संरक्षण देने होंगे। अतः 'श्रमिक' की वेतन स्तर की मर्यादा समाप्त करनी होगी। *Class III* तथा *II* में निर्माण किया हुआ कृत्रिम भेद भी समाप्त करना होगा। 'तज्ञ' *Technicians* को 'श्रमिक' की परिभाषा में शामिल करना होगा और कार्य के स्वरूप को आधार मानकर 'श्रमिक' की नई कानूनी परिभाषा बनानी पड़ेगी।

अध्यापक समस्या और सरकार का दायित्व

हाल ही में अध्यापकों ने देशव्यापी आन्दोलन की सूचना दी है। सरकार का कहना है कि अध्यापकों के लिए आन्दोलन का मार्ग शोभा नही देता। सिद्धान्ततः बात तो सही है किन्तु क्या कारण है कि इन गुरुजनों को इस अस्त्र का उपयोग करना पड़ा ? यह कहना गलत है कि अध्यापक-वर्ग प्रकृति से ही गैर-जिम्मेदार तथा विद्रोही हैं। वास्तव में, उनकी प्रकृति आन्दोलन के प्रतिकूल है। तो भी बाध्य होकर उन्हें यह कदम उठाना पड़ रहा है।

उच्चतम शिक्षा की नींव

देश में प्राथमिक शिक्षकों की संख्या १२॥ लाख तथा माध्यमिक शिक्षकों की ३,६०,००० है। नेताओं की प्रवृत्ति उच्चतम पाठ्यक्रमों को प्रोत्साहन देने की है। यद्यपि यह अच्छी बात है किन्तु हम यह न भूलें कि उच्चतम शिक्षा की नींव प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा है। इस दिशा में हम गुणात्मक तथा संख्यात्मक प्रगति नहीं करेंगे तो उच्चतम शिक्षा में हमारे देशवासी वास्तविक प्रगति कभी नहीं कर सकेंगे। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा की सफलता प्रमुख रूप से अध्यापकों पर ही अवलम्बित है। दुःख की बात है कि यह महत्वपूर्ण वर्ग आर्थिक दुरवस्था का शिकार बन गया है।

शिक्षा मंदिर की कमजोर नींव

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भकाल में यह तय हुआ था कि अप्रशिक्षित प्राथमिक शिक्षक का वेतन प्रतिमास ४०) तथा प्रशिक्षित प्राथमिक शिक्षक का ५०) होना चाहिये। सरकारी आंकड़ों के अनुसार तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में एक राज्य ऐसा रहेगा जिसमें शिक्षक का न्यूनतम पारिश्रमिक ५५) से कम रहेगा। चार राज्यों में वेतन श्रेणियां ५६) से ६५) तक रहेगी। पांच राज्यों में ६६) से ७५) तक रहेगी। तथा अन्य पाँच राज्यों में ७५) के ऊपर

रहेगी। स्पष्ट है कि शिक्षकों का पारिश्रमिक उद्योगों में काम करने वाले अर्द्ध-प्रशिक्षित मजदूरों से भी कम है। आज की परिस्थिति में किसी भी परिवार का निर्वाह इतने कम पैसों में हो नहीं सकता। इतना वेतन पाने वाले लोग सदा ही असुरक्षितता का अनुभव करेंगे। उस अवस्था में दत्तचित्त होकर अध्यापन कार्य चलाना उनके लिए असंभव हो जायगा। परिणाम स्वरूप भारतीय शिक्षा मंदिर की नींव कमजोर बन जायगी।

प्राचीन काल में यह माना गया था कि अध्यापकों को उदर-निर्वाह की चिंता से मुक्त रखना, यह समाज का दायित्व है। इस धारणा के अनुकूल परम्पराएँ विकसित हुई थीं। आज उन परम्पराओं को हमने त्याग दिया है और उनके स्थान पर नई स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण करने में हम असमर्थ सिद्ध हुए। आज स्वयं पूर्ण तथा स्वयं शासित सामाजिक इकाइयों को समाप्त किया जा रहा है और उनका स्थान सरकार लेती जा रही है। किन्तु जहां एक ओर सभी अधिकारों का केन्द्रीकरण अपने हाथों में करने की प्रवृत्ति हमारे शासक प्रकट कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर उन अधिकारों के कारण निर्माण होने वाली जिम्मेदारियों का निर्वाह करने की प्रवृत्ति का उनमें अभाव ही दिखाई देता है।

शिक्षा सर्वप्रमुख निर्माण कार्य

योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि अध्यापकों की न्यूनतम तथा अधिकतम वेतन श्रेणियां तय करने के हेतु एक समिति या आयोग की नियुक्ति हो। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा के लिए जो धनराशि निश्चित की थी उसका ५० प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा के लिए तथा २१ प्रतिशत माध्यमिक शिक्षा के लिए खर्च करने की योजना थी। कुल धनराशि ४.२० करोड़ रु० की थी। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षकों की संख्या का विचार किया तो यह धनराशि अपर्याप्त प्रतीत होती है। साथ ही, हम यह भी सोच रहे हैं कि देश में निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा १४वें वर्ष तक दी जाय।

इसके लिए शिक्षकों की संख्या और बढ़ानी पड़ेगी। तब तो ४.२० करोड़ उनके समुचित वेतन के लिये भी अपर्याप्त होंगे। निम्न शिक्षा व्यवस्था के बाकी खर्चे तथा उच्चतम शिक्षा विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हमारे पास कुछ नहीं बचेगा। देश के पुनर्निर्माण के कार्य में शिक्षा का स्थान कितना महत्वपूर्ण है इसका विचार धनराशियों का बंटवारा करते समय ध्यान

नहीं रखा गया। हम पत्थर-ईटों के निर्माण को अधिक महत्व देते हैं, मनुष्य के निर्माण को नहीं। आवश्यकता यह है कि शासक शिक्षा क्षेत्र को सर्व प्रमुख निर्माण कार्य समझें और उसके लिये अधिक धनराशि निश्चित करें।

आज अध्यापकों के पारिश्रमिक के विषय में चारों ओर अराजकता (anarchy) की अवस्था दिखाई देती है। सभी राज्यों के अध्यापकों के वेतन स्तर तथा अन्य भत्तों में एकरूपता लाने के लिये उच्चाधिकार समिति या आयोग की नियुक्ति होनी चाहिये। वैसे ही (Pre-University) क्षेत्र के लिये अखिल भारतीय स्तर का अनुदान आयोग नियुक्त होना चाहिये।

अध्यापकों ने आज जो मांगें रखी हैं उनकी समर्थनीयता निर्विवाद है। संगठित मजदूरों की सभी संस्थाएं उनका समर्थन करेंगी। अध्यापकों को भी अपना आन्दोलन सफलता प्राप्त होने तक जारी रखना चाहिये। सरकार के गोलमाल आश्वासनों के आधार पर आन्दोलन को वापिस लेना या स्थगित करना गलत सिद्ध होगा।

किन्तु केवल यहीं रुकना भी उनके लिये अपर्याप्त होगा। मौलिक प्रश्न यह है कि अध्यापकों की संस्थाओं का स्वरूप क्या रहे? शिक्षा संस्थाएं अलाभ कर आधार पर चलाई जाती हैं, और इस कारण उन्हें औद्योगिक संस्थान नहीं मानना चाहिये, यह एक दृष्टिकोण है। किन्तु क्या यह सत्य नहीं कि शिक्षा संस्थाओं में व्यवस्थापक तथा अध्यापकों के सम्बन्ध पूर्णतः मालिक-मजदूर सम्बन्धों के समान ही रहते हैं? प्राचीन अध्यापकों का उदाहरण यहाँ लागू नहीं हो सकता। प्राचीन काल में अध्यापकों को श्रेष्ठ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। भारतीय जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना होगी, तब की बात अलग रहेगी किन्तु आज वास्तविकता के आधार पर इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि शिक्षा संस्थाओं में मालिक-मजदूर सम्बन्ध विद्यमान है। इसका स्वाभाविक उपप्रमेय यह है कि अध्यापकों को अन्य वेतन भोगी लोगों के समान ट्रेड यूनियन के सारे अधिकार प्राप्त होने चाहिये। वैसे ही उन्हें औद्योगिक विवाद अधिनियम का संरक्षण भी प्राप्त होना चाहिये।

श्रमिक कानून की परिधि में अध्यापकों को जब तक नहीं लाया जाता तब तक उनकी समस्याओं की सुलझन निकालना असम्भव सा है।

सरकार अध्यापकों के विषय में दो माप दण्ड उपयोग में ला रही है। वे अपने अधिकारों की बात करते समय उन्हें निर्वेतन काम करने वाले प्राचीन गुरुजनों का उदाहरण बताया जाता है किन्तु उन गुरुजनों की तथा उनके गुरुकुलों की समाज में जो मान्यता थी उनकी पुनः प्रतिष्ठापना करने के लिये सरकार 'सेक्यूलरिज्म्' के नाम पर तैयार नहीं। और आज जिन वास्तविकताओं से अध्यापक वर्ग पीड़ित है उनके अनुकूल ट्रेंड यूनियनिज्म् के अधिकार उन्हें देने को सरकार की तैयारी नहीं। इस नीति के ही फलस्वरूप अध्यापकों के आन्दोलन का निर्माण हुआ है। सरकार को शीघ्राति-शीघ्र यह निश्चय करना चाहिए कि दो में से किस एक मापदण्ड को वह स्वीकार करना चाहती है। इसी में समस्या की सुलझन है।

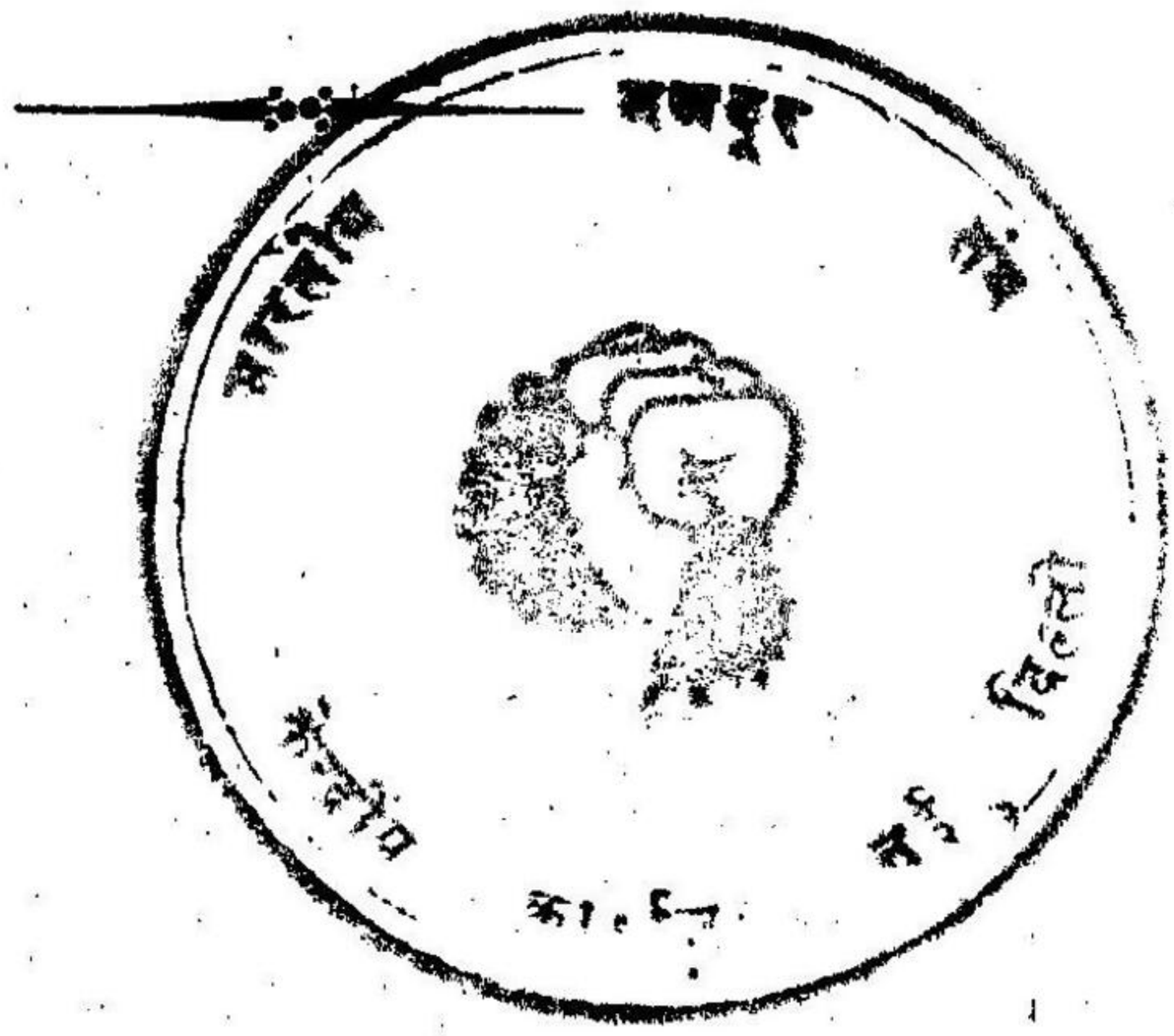

कारीगरों को कानूनी संरक्षण दिया जाय

सम्पूर्ण देश में औद्योगिक मजदूरों की संख्या स्वावलम्बी (*Self Employed*) कारीगरों की तुलना में बहुत कम है। किन्तु आर्थिक रचना में उनका स्थान अधिक महत्वपूर्ण (*Strategic*) बन गया है। स्वावलम्बी कारीगरों की संख्या ५ करोड़ से कुछ अधिक है। परन्तु उनके कार्य में यांत्रिकीकरण कम है। और कार्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वे स्वाभाविक रूप से अलग-अलग बिखरे हुये स्वयंपूर्ण अतएव संगठन विमुख हैं। वास्तव में उनके कार्य का महत्व देश के लिये बहुत है। परन्तु उपर्युक्त कारणों से वे पढ़े लिखे लोगों की दृष्टि से उपेक्षित हैं। सरकार भी उनकी चिन्ता नहीं करती क्योंकि वे असंगठित हैं, और सरकार की नीति है कि जो अधिक चिल्लाहट करेगा, अधिक गड़बड़ करेगा उसी की बात सरकार मान लेगी। अतः उनको कानूनी संरक्षण देने का विचार सरकार के सामने नहीं आता।

श्रमिकों का वर्गीकरण

वैसे तो सभी कारीगरों को 'श्रमिक' ही समझा जाना चाहिये। परन्तु आज का औद्योगिक कानून यह बात स्वीकार नहीं करता। उस कानून का संरक्षण केवल वेतन भोगी 'श्रमिकों' को ही मिलता है, बशर्ते कि उनका वेतन ५०० रुपये से कम हो तथा उनके कार्य का स्वरूप व्यवस्थापकीय न हो। वे ही श्रमिक कानून की परिधि में आते हैं। स्वावलम्बी (*Self Employed*) श्रमिक उस परिधि में नहीं आते क्योंकि वे मालिक मजदूर के सम्बन्ध के ऊपर रहते हैं। इसलिये आज का औद्योगिक कानून उन्हें संरक्षण देने में असमर्थ है।

उत्पादित माल को उचित संरक्षण चाहिये

दूसरी भी एक बात है। कारीगरों की समस्याओं का स्वरूप औद्योगिक मजदूरों की समस्याओं से भिन्न रहता है। जहाँ मजदूरों की समस्याओं का सीधा

सम्बन्ध मालिकों से रहता है, वहां कारीगरों की समस्याओं का सम्बन्ध मार्केट से रहता है। मार्केट में अपना स्थान अच्छा रखने के लिये कारीगर यह चाहेगा कि उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं को संरक्षण देने की उचित व्यवस्था सरकार द्वारा हो। खादी या ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को उसी तरह का संरक्षण प्राप्त होता है। यह परावलम्बी बात है, और जब तक सरकार पर इस हेतु पर्याप्त दबाव नहीं आता, तब तक यह सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरी बात स्वावलम्बन की है, वह है–*Market Cooperatives* का गठन। औद्योगिक मजदूरों की दृष्टि से ट्रेड़ यूनियन का जिस तरह का महत्व है, लगभग उसी तरह का महत्व विश्वकर्मा कारीगरों के लिये *Market Cooperatives* का है। अतः कारीगर तथा उनके हितैषियों को इस पहलू पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

कारीगरों को सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में सर्वंकश सहायता पहुंचाने की दृष्टि से उनके परम्परागत औद्योगिक परिवार बहुत ही उपयुक्त थे। आज उन परिवारों का आर्थिक पहलू पूर्णतः उपेक्षित हो गया है और सामाजिक पहलू विकृत हो चुका है। परिणामतः उनकी व्यवहारिक उपयुक्तता नष्टप्राय हो गई है। उनकी शास्त्रीय ढंग से पुनः स्थापना होते तक उनका कार्य चलाने वाली नई रचनाओं का स्वीकार अपरिहार्य है। उनमें से एक रचना याने *Market Cooperatives* है। औपचारिक ढंग की, सदस्यता संविधानात्मक, सर्वसाधारण लोकतांत्रिक संस्थाओं का निर्माण शायद उतना आवश्यक नहीं। क्योंकि इस तरह की संस्थाओं का निर्माण करने के लिये जितनी शक्ति लगेगी, उतनी उपलब्धि कराना कारीगरों के लिये आज सम्भव नहीं है। और दूसरा, कारीगरों के औद्योगिक परिवार आज की गिरी हुई अवस्था में भी उतना कार्य करने की क्षमता अवश्य रखते हैं जितना कि इस तरह की औपचारिक संस्थाएं कर सकेंगी।

सूचना केन्द्र खोले जांय

परन्तु सहकारी संस्थाओं के जैसे सामूहिक प्रयास को तथा कारीगरों के व्यक्तिगत प्रयास को अधिक सबल तथा सफल बनाने के हेतु स्थान-स्थान पर उनके लिये सूचना केन्द्र खोलना आवश्यक है। मार्केट से सम्बन्धित पूरी जानकारी तथा सहकारी आन्दोलन के विषय में पूर्ण ज्ञान–दोनों सामान्य कारीगरों को उपलब्ध कराना तथा दोनों की दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ निर्माण हुई तो उनका

निराकरण करना, यह आज की उनकी सर्व प्रथम आवश्यकता है। इस दृष्टि से स्थान-स्थान पर 'विश्वकर्मा कारीगर सूचना केन्द्र' का निर्माण होना आवश्यक है।

कारीगर पहल करें

आर्थिक दृष्टि से औद्योगिक मजदूर तथा कारीगर दोनों पीड़ित हैं। किन्तु पहले को कानून का संरक्षण प्राप्त है तो दूसरे को नहीं। और सभी नेताओं तथा संस्थाओं का ध्यान पहले की ओर है दूसरा उपेक्षित है। क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से पहला अधिक संगठित और दूसरा असंगठित है। इस अवस्था को दूर करना आवश्यक है।

इस कार्य में कारीगरों को स्वयं पहल करनी चाहिये। अन्य हितैषीजन सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

भारत का सर्वाधिक उपेक्षित नागरिक

खेतिहर मजदूर

भारत की केन्द्रीय श्रमिक संस्थाओं ने कारखानों के मजदूरों को संगठित करने के लिये जितने प्रयास किये, उतने खेतिहर मजदूरों के लिये नहीं। वास्तव में खेती हिन्दुस्थान का सबसे बड़ा उद्योग है। देश को इसी के द्वारा अनाज प्राप्त होता है। खेती की दृष्टि से देश जब तक आत्मनिर्भर नहीं होता, तब तक औद्योगिक विकास की उपयुक्तता सीमित ही रहेगी। तो भी खेती की ओर सरकार तथा विभिन्न दलों के नेतागण पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहे हैं। यही कारण है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में खेती के विकास के लिये तुलनात्मक दृष्टि से कम धनराशि निर्धारित की जाती है। हिन्दुस्थान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हुये भी सबसे अधिक उपेक्षित उद्योग खेती है। इसीलिये किसान तथा खेतिहर मजदूरों के कल्याण के विषय में चारों ओर उदासीनता ही दिखाई देती है।

खेतिहर मजदूरों की स्थिति

जब से तीसरी पंचवर्षीय योजना चली तब से आज तक औद्योगिक क्षेत्र में कहीं-कहीं शत-प्रतिशत से भी अधिक उत्पादन बढ़ा है, लेकिन खेती के क्षेत्र में उत्पादन बहुत कम बढ़ा है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में जैसा अनुमान है औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन ८–९ प्रतिशत अर्थात् १० प्रतिशत तक उत्पादन हर साल बढ़ेगा, किन्तु खेती का उत्पादन ज्यादा से ज्यादा ढाई से तीन प्रतिशत बढ़ेगा। इन दोनों के बीच के असंतुलन से देश का आर्थिक संतुलन हिल रहा है। मूल्यों में वृद्धि उसी का परिणाम है। इसलिये खेतिहरी क्षेत्र में प्रगति आवश्यक बन गई है। जब तब खेतिहरी क्षेत्र में प्रगति नहीं होगी, देश खतरे में है। शहर में काम करने वालों को, कारखानों में काम करने वालों को, सब लोगों को इस खतरे को समझना चाहिये। १५ साल के आयोजित अर्थतन्त्र में निकले परिणामों के बारे

में हम सबको शिक्षित होना चाहिये। हमारा ध्यान गांव की जनता की ओर ज्यादा से ज्यादा होना चाहिये।

कोई भी हिन्दुस्थान में कारखाने नहीं चला सकता, यदि यहां कपास न हो, पटसन न हो, गन्ना न हो, तेल के बीज न हों। ये सब वस्तुयें तो खेती से मिलती हैं, कारखानों में पैदा नहीं होतीं। हाँ, कोई ५०–६० साल के बाद १०० साल के बाद यह हो सकता है कि सब वस्तुयें कैमिकल से बनने लगें और कैमिकल फूड भी तैयार हो सके। पर यह आगे की बात है। आजकल तो चावल, गेहूं, गन्ना, सन, रुई धरती से पैदा होते हैं। यदि धरती का उत्पादन न बढ़ा तो कुछ होने वाला नहीं है। हम तो मजदूरों में काम करते हैं। हमारे यहां बड़े आदमी भी हैं, वकील भी हैं, डाक्टर भी हैं किन्तु हमारी खेती केवल वही लोग करते हैं जिन्हें हम छोटी मोटी रइय्यत कहते हैं, जिनके पास १० व १५ एकड़ जमीन है और अधिकांश के पास यह भी नहीं है। लेकिन इनकी आवाज कोई नहीं सुनता।

हिन्दुस्थान में करीब-करीब २५ प्रतिशत निवासी खेतिहर मजदूर हैं। यदि हम उन खेतिहर मजदूर को काम करने के लिये योग्य नहीं बनायेंगे, उनकी काम की परिस्थिति को नहीं सुधारेंगे तो हमारा काम बनने वाला नहीं है। एक एकड़ भूमि में उत्पादन वर्तमान से दुगुना फौरन हो सकता है लेकिन कब, जब खेतिहर मजदूर की परिस्थिति सुधरे। इसलिये उसको मूड में लाना चाहिये। उसमें काम करने की शक्ति पैदा करनी चाहिये। जिस समय वे बेरोजगार रहते हैं उन्हें रोजगार दिया जाय। खेती के क्षेत्र में हार्सपावर तथा बिजली खेतिहर मजदूर ही है, जिसे हम भूल गये हैं। उनकी संख्या ७ करोड़ है। आपके पास ऐसे छोटे-छोटे ६ या ७ करोड़ इन्जन हैं। कुछ दिन हुये एक जांच हुई थी उससे यह निष्कर्ष निकला कि ज्यादा से ज्यादा वह १२० दिन काम करता है। शेष २४० दिन घर पर रहता है। वह जब काम नहीं करता तो खेती में काम नहीं होता है। अगर वह बैठ जाता है तो वह भूखा मरता है, क्योंकि उसकी आय कम है।

इसका एक कारण यह भी है कि समाचार जगत में ग्रामीण जनता अपनी बातें प्रभावशाली ढंग से नहीं रख पाती कृषि के उत्पादन के अभाव में नागरी जनता को जब कष्ट होने लगते हैं, तभी ग्रामीण जनता की ओर समाचार पत्रों का ध्यान जाता है।

मार्क्सवाद ग्रामीण जीवन से परे

कृषि उद्योग-रथ के दो चक्र हैं, 'किसान और खेतिहर मजदूर'। कारखाने के मालिक और मजदूरों के सम्बन्ध जिस तरह के होते हैं उसी तरह के सम्बन्ध किसान और खेतिहर मजदूरों के रहने चाहिये, यह प्रतिपादन वामपंथियों ने किया है। वामपंथियों की विशेषता यह है कि समस्त संसार के विषय में विभिन्न सिद्धांत प्रतिपादित करते हुये भी संसार की सबसे बड़ी जनसंख्या याने किसान का खेतिहर मजदूर के विषय में वे पूर्णरूपेण अनभिज्ञ हैं। कार्ल मार्क्स के समय किसान के सम्बन्ध में चर्चा निकली थी–'Haves and Haves not' इनमें से किस वर्ग में किसान की गिनती की जाय इसका सीधा उत्तर कार्ल मार्क्स नहीं दे सके। मार्क्सवाद ग्रामीण जीवन की समस्याओं की दृष्टि से अधूरा है; क्योंकि मार्क्स का अध्ययनकाल ग्रेट ब्रिटेन में ही बीता। वहां कृषि का महत्व बहुत कम था। इसलिए कृषि प्रधान जीवन का अध्ययन करने का अवसर मार्क्स को प्राप्त नहीं हुआ। पूर्वी योरप के कृषि प्रधान देशों में रहने वाले उनके शिष्यों ने किसानों के जीवन स्तर (Status) के विषय में जब उनसे पूछा तब वे सुनिश्चित तथा समाधान कारक उत्तर नहीं दे सके। उनके ही सिद्धान्तों को आधारभूत मानकर चलने वाले विभिन्न वामपंथी दल इस प्रश्न पर भ्रम में हों, यह स्वाभाविक ही है।

प्रत्येक ग्राम पृथक इकाई

भारत में सदा ही यह माना गया था कि हर एक ग्राम एक इकाई है, एक कामन वेल्थ है, जिसके तीन सहभागी हैं–किसान, खेतिहर मजदूर और कारीगर इन तीनों सहभागियों में सम्पूर्ण सहयोग रहेगा तो तीनों का, अतएव ग्राम का कल्याण होगा और तीनों में परस्पर विरोध निर्माण होगा तो तीनों का, अतएव ग्रामों का विनाश होगा। यह ग्रामीण जीवन के तीनों सहभागियों में निर्माण करने में हमारे पूर्वजों को सफलता प्राप्त हुई थी। आज जब कि अन्य प्राचीन धारणाएं दुर्बल हो गईं–यह धारणा भी प्रभावहीन बन गई है।

खेतिहर मजदूरों के संगठन में असफलता

वाम पंथी ट्रेड यूनियनों ने खेतिहर मजदूरों में ज्यादा काम नहीं किया। कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां इसके लिये जिम्मेवार हैं। कारखानों में सैकड़ों मजदूर इकट्ठा काम करते हैं इसलिये उनका निवास भी कारखाने के निकट ही

हुआ करता है। कार्यस्थल या निवास स्थान दोनों में मजदूरों का स्वाभाविक केन्द्रीयकरण होता है। अतः उसके साथ सम्पर्क रखने में कठिनाई नहीं होती। वैसे ही सैकड़ों हजारों मजदूर एक ही मैनेजमेंट के अन्दर काम करते हैं। इसलिये एक ही मैनेजमेंट को विरोध का केन्द्र बनाते हुये सबको संगठित करना सरल हो जाता है। ग्रामीण विभाग की अवस्था दूसरी है। कृषि उद्योग का स्वरूप ही ऐसा है कि उस पर काम करने वाले मजदूर स्वाभाविक रूप से एक दूसरे से दूर विस्तृत क्षेत्र में फैले हुये रहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी उनका एकत्रीकरण कठिन हो जाता है—कार्यस्थल अलग-अलग तथा दूर-दूर। फिर उनके किसान भी अलग-अलग होते हैं इस कारण उनको एकत्र करना अतीव कठिन हो जाता है। विस्तृत क्षेत्र में अकेले-अकेले पड़े रहने के कारण समस्याओं की एकता की जानकारी तथा सामूहिक जागृति दोनों का अभाव उनमें पाया जाता है। वामपंथी जो कि कम प्रयास में तथा कम समय में अधिकतम असंतोष फैलाना चाहते हैं। अपनी नीति (Strategе) के लिये खेतिहर मजदूरों को अनुपयुक्त समझते हैं।

कांग्रेस प्रभावित 'इन्टुक' ने थोड़ा सा प्रयास इस दिशा में अवश्य किया था, खेतिहर मजदूरों के लिये ट्रेड यूनियन के लिये सदस्यता शुल्क कम रखते हुये उनको अपने झण्डे के नीचे आने के लिये आवाहन किया था किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। कुछ वर्ष पूर्व डा० लोहिया ने कहा था कि जो राजनैतिक दल खेतिहर मजदूरों को संगठित करेगा वही सबसे अधिक बलशाली सिद्ध होगा। इसके पश्चात् यह आशा की गई थी कि उनके दल के लोग यह प्रयास करेंगे किन्तु यह आशा भी व्यर्थ सिद्ध हुई।

खेतिहर मजदूरों की समस्या

खेतिहर मजदूरों की समस्या के सम्बन्ध में मौलिक विचारों का अभाव ही दिखाई देता है। हिन्दुस्थान की सबसे बड़ी समस्या बेकारी तथा अर्द्ध बेकारी है। बेकारी दृश्यमात्र है अर्द्ध बेकारी स्पष्ट रूप से दृश्यमात्र नहीं, इसलिये उसका स्वरूप अधिक भीषण है। अर्द्ध बेकार लोगों में सबसे अधिक संख्या खेतिहर मजदूरों की है। साल में मुश्किल से ५ महीने उनको काम रहता है तब तक उनको कुछ रोजी भी मिलती है। जब खेती का काम बन्द हो जाता है, तब उनको बेकार रहना पड़ता है। उन दिनों में जीवन यापन के लिये क्या मार्ग निकाला जाय—यह उनकी सबसे बड़ी समस्या है। कृषि कार्य के दिनों में उन्हें

जो पैसा मिलता है वह पर्याप्त रहता है–यह बात नहीं। फिर उनमें से बचत करने की तो बात दूर ही रही। इस अर्द्ध बेकारी का निवारण–यह उनकी सर्व प्रमुख समस्या है, और कृषि कार्य के समय उचित पारिश्रमिक–यह उनकी दूसरी समस्या है।

पाश्चिमात्य वायुमण्डल में पले हुए हमारे नेताओं ने यह बात सुझाई कि 'न्यूनतम वेतन अधिनियम' उनके लिये भी लागू किया जाय। विभिन्न प्रदेशों के कुछ भागों में यह प्रयोग किया गया। किन्तु संतोषजनक परिणाम नहीं निकला। क्योंकि इस पर अमल करते हैं तो कम मजदूरों के द्वारा ज्यादा काम निकालने की प्रवृत्ति किसानों में आ जाती है। सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति खेतिहर मजदूरों में बहुत ही कम है। इसके फलस्वरूप 'न्यूनतम वेतन अधिनियम' का पालन हुआ तो अपनी बचत की दृष्टि से किसान कई मजदूरों को बेकार रखेंगे। बेकार मजदूर भी सोचेगा कि बिल्कुल पैसा न मिलने के स्थान पर थोड़ा बहुत मिल जाय तो बहुत अच्छा। इस विचार से उसका प्रतिकार टूट जाता है। परिणामस्वरूप सभी खेतिहर मजदूर कानून के बावजूद कम पारिश्रमिक लेकर काम करने को तैयार हो जाते हैं। केवल कानून के सहारे 'न्यूनतम वेतन अधिनियम' को लागू करना हो तो निरीक्षकों की बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ेगी। इतना बड़ा Inspectorate व्यावहारिक दृष्टि से रखना असम्भव है। बाकी कानूनों की भी बात यही है। मतलब यह कि कृषि उद्योग तथा ग्रामीण जीवन की विशेषतायें ध्यान में रखते हुये हमें उनकी समस्याओं का विचार करना पड़ेगा। शहरी जीवन के लिये जो बातें उपयुक्त हैं, वे वहां लागू नहीं हो सकतीं। किसी कानून के आधार पर नहीं अपितु उपरिनिर्दिष्ट सहभागित्व की धारणा के आधार पर ही ग्रामीण समस्याओं का समाधान निकल सकता है।

काँचन मुक्ति

प्राचीन भारत में 'काञ्चन मुक्ति' (Freedom from currency) का सबसे बड़ा प्रयोग ग्रामों में ही होता था। खेतिहर मजदूर तथा कारीगरों को पैसे के रूप में पारिश्रमिक देने की पद्धति नहीं थी। ३६५ दिन काम करने वाले कारीगर को भी एक पाई तक पारिश्रमिक नहीं मिलता था किन्तु फसल आने पर हर मजदूर तथा कारीगर को धान्य के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था। मतलब यह था सम्पूर्ण ग्राम की जो खेती होगी उसमें किसानों के साथ-साथ

खेतिहर मजदूर तथा कारीगर भी शेयर होल्डर थे और उनका परिश्रम यही उनकी खेती में लगाई हुई पूंजी थी। यह कल्पना कानून के स्वरूप में नहीं, अपितु रूढ़ि के रूप में किसानों ने भी मान ली थी। और धर्म प्रधान होने के कारण किसी भी तरह की चालाकी न करते हुए फसल आने पर मजदूर तथा कारीगरों को उनका हिस्सा देना किसान अपना पवित्र कर्त्तव्य मानते थे। तीनों में इस तरह सहयोग की भावना थी।

पारिश्रमिक धान्य के रूप में देने (In kind) की यह कल्पना अभी तक पढ़े लिखे लोगों को उपहास्यास्पद प्रतीत होती थी। किन्तु आज वे ही अपनी-अपनी ट्रेड यूनियन्स के द्वारा मांग कर रहे हैं कि उनके वेतन का कुछ हिस्सा उन्हें धान्य (In kind) के रूप में मिलना चाहिये। आज की भी परिस्थिति में ग्रामीण जीवन के सहयोगित्व की धारणा का पुनरुज्जीवन ही मजदूर तथा कारीगरों के लिये सुख तथा सुरक्षितता का आश्वासन दे सकता है। किसानों में यह भावना फिर से प्रचारित करना धर्म के आधार पर सम्भव है।

छोटे उद्योगों का विस्तार हो

अर्ध बेकारी का निवारण करने के लिए हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के ढांचे में परिवर्तन लाना आवश्यक है। उद्योग शहरों में तथा अर्द्ध-बेकार देहातों में—यह आज की अवस्था है। उद्योगों में काम करने के लिये अर्द्ध-बेकार मजदूरों को गांव छोड़कर शहर में जाना पड़ेगा। उस अवस्था में खेती पर काम करने वालों की संख्या कम हो जायगी। वे देहात में ही रहेंगे तो अर्द्ध-बेकारों की संख्या वैसी ही रहेगी।

इसमे से रास्ता यही है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत उद्योगों को देहातों में ले आने की व्यवस्था होनी चाहिये। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए पश्चिमी औद्योगिक ढांचा उपयुक्त नहीं। यहां जापान के नमूने पर विकेन्द्रित उद्योगों की रचना आवश्यक है। पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में यान्त्रिकीकरण का आधार वाष्प था। वाष्प का विकेन्द्रीकरण सम्भव नहीं था। इसलिये बड़े तथा केन्द्रित उद्योगों की निर्मिति अपरिहार्य हो गई थी। अब वाष्प के साथ-साथ बिजली तथा अणुशक्ति भी यांत्रिकीकरण का आधार बन गई है। इनका विकेन्द्रीकरण हो सकता है। इसलिये औद्योगिक प्रक्रियाओं का भी विकेन्द्रीकरण सम्भव है। देश के गांव-गांव में बिजली फैलाई जाय। हर मकान में बिजली के

आधार पर चलने वाले छोटे यंत्र रहें, किसी भी वस्तु का एक-एक पुर्जा निर्माण करने का कार्य छोटे यंत्रों के आधार पर विभिन्न मकानों में हो। इस तरह विभिन्न स्थानों पर निर्मित विभिन्न पुर्जों को दूसरे किसी स्थान पर एकत्र किया जाय। यह व्यवस्था हम स्वीकार करेंगे तो कारखाने के स्थान पर परिवार उत्पादन की इकाई बन जायगी। बड़े कारखानों में जो मालिक मजदूर सम्बन्धों का विषैला वायुमण्डल दिखाई देता है, वह भी नष्ट हो जायगा। परिवार के सभी लोग अपनी-अपनी फुर्सत से अपने ही मकान में बैठकर बिजली के सहारे यंत्र के द्वारा एक-एक पुर्जे का निर्माण कर सकेंगे। और हमारे बुनकर का हाथ करघे के साथ जो आत्मीयता का सम्बन्ध रहता है, वही परिवार का अपने यंत्र के साथ रहेगा। और इस तरह अपनी विकेन्द्रित औद्योगिक रचना के आधार पर ग्रामीण जनता को उस कालावधि में भी काम मिलेगा जिसमें खेती के काम बन्द रहते हैं।

यह बात अवश्य है कि उद्योगों की रचना के विषय में एक ही सर्वसाधारण नियम नहीं बनाये जा सकते। स्थल, काल परिस्थिति के अनुकूल विभिन्न प्रकार के उद्योगों की रचना आवश्यक तथा अपरिहार्य होगी, उनमें बड़े तथा केन्द्रित उद्योगों का भी अपना विशेष स्थान रहेगा। किन्तु आज चारों ओर जो एक धारणा फैल गई है कि देश के औद्योगिक विकास का अर्थ केन्द्रित उद्योगों का विस्तार है, यह दूर हो जायगी। औद्योगीकरण का आग्रह विकेन्द्रित व्यवस्था पर रहेगा। पश्चिमी देशों से भिन्न किन्तु भारत जैसे कृषि प्रधान देशों के लिये अनुकूल विकेन्द्रित व्यवस्था के निर्माण का महत्व सब लोग समझने लगेंगे। इसी से ग्रामीण जनता की अर्द्ध बेकारी का सफलतापूर्वक निवारण किया जा सकता है।

हमारे ग्रामों की समस्याओं का समाधान निकालने के लिये पश्चिम का अन्धानुकरण उपयुक्त नहीं, खेतिहर मजदूरों की समस्या 'ट्रेडयूनियनिज्म' के आधार पर सुलझ नहीं सकती। प्राचीन भारतीय विलेज कामनवेल्थ का पुनरुज्जीवन तथा बिजली के सहारे ग्रामीण क्षेत्र में विकेन्द्रित उद्योगों का विस्तार इन दो उपायों से ही खेतिहर मजदूर तथा समस्त ग्रामीण जनता को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है।

बनवासी मजदूरों की समस्या

हमारे देश के सबसे पिछड़े हुए लोग तथा मजदूर गिरिवासी तथा बनवासी हैं। वे अशिक्षित तथा असंगठित हैं। उनकी आय के साधन जंगलों से सम्बन्धित ही होते हैं। पेड़ गिराना, लकड़ी का कोयला बनाना, जलाऊ लकड़ी तथा किंकर जंगल से बाहर ले जाना तथा जंगलों में प्राप्त होने वाली अन्य वस्तुएं बाहर के लोगों को बेचना आदि काम ये करते हैं। कुछ मात्रा में कृषि भी उनके जीविकोपार्जन में सहायक सिद्ध होती है किन्तु अल्प मात्रा में ही। उनकी आय बिलकुल ही नगण्य रहती है।

शोषण और विवशता

वर्ष के कुछ सप्ताह उन्हें फल-फूल पत्तों पर निभाना पड़ता है। उनकी विवशता का लाभ उठाकर जंगल के ठेकेदार, जमीन मालिक तथा साहूकार उनका शोषण करते रहते हैं। लगभग तीस वर्ष पूर्व तक उनकी स्थितियों की वास्तविक जानकारी नगर ग्राम वासियों को नहीं थी। सन् १९३८ में श्री डी० सार्यामिग्टन ने इनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण प्रतिवेदन तत्कालीन सरकार के सामने रखा। वही इस विषय में पहला अधिकृत प्रतिवेदन समझा जाना चाहिये।

वैसे तो ये मजदूर बहुत ही उद्यमशील हैं। किन्तु उनके परिश्रम से प्राप्त होने वाली चीजें उन्हें हाथ नहीं लगतीं। जंगल से बाहर भेजे जाने वाले माल पर जंगल के ठेकेदार पर्याप्त मुनाफा प्राप्त करते हैं। मेहनत बनवासी मजदूरों की और मुनाफा ठेकेदारों का—यह हाल है। जमीन को जोतने वाले बनवासी मजदूर और स्वामित्व का उपभोग करने वाले दूसरे आलसी लोग। विवश होकर बेचारे साहूकारों के चंगुल में फंसना अपरिहार्य मान लेते हैं।

सरकारी बन विभाग असमर्थ

न्यूनतम वेतन अधिनियम इनके लिये लागू किया तो भी उसका व्यवहार में कुछ भी उपयोग नहीं होता, यह अनुभव है। उस अधिनियम को क्रियान्वित कैसे किया जाय ? इस संदर्भ में जो कठिनाइयां खेतिहर मजदूरों के विषय में आती हैं, वे सब इनके भी विषय में लागू होती हैं। उनकी तुलना में अधिक तीव्रता से। जंगलों से सम्बन्धित उद्योग या वाणिज्य का हमारे देश में पर्याप्त विकास नहीं हुआ। इसलिये बनवासी मजदूर अपने ही क्षेत्र में कार्य करते हुये आर्थिक दृष्टि से स्वयंपूर्ण नहीं बन सकता। सरकारी बन विभाग उसकी सहायता करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। योजना आयोग के कथनानुसार निवास की व्यवस्था, पीने के पानी की व्यवस्था, वैद्यकीय सहायता, पढ़ाई की व्यवस्था आदि कार्यों की ओर शासकीय बन विभाग को पूरा ध्यान देना चाहिये था। किन्तु वह हो नहीं सका।

समस्याओं का उपाय क्या ?

भारत का मजदूर संगठन उन तक पहुंचता नहीं। खेतिहर मजदूरों को संगठित करने में जो व्यावहारिक कठिनाइयां आती हैं वे ही कुछ अधिक मात्रा में बनवासी मजदूरों के विषय में भी आती हैं। ट्रेड यूनियनों के द्वारा उन्हें उचित संरक्षण प्राप्त होगा यह विचार वास्तविकता के अनुकूल नहीं। उनकी समस्याओं का स्वरूप ऐसा है कि जिनकी सुलझन ट्रेड यूनियनों के द्वारा नहीं निकल सकती।

खाली भूमि बनवासियों को

बनवासी क्षेत्रों में कृषियोग्य भूमि, जो खाली पड़ी है, बनवासी मजदूरों को देनी चाहिये, यह मांग विभिन्न दलों की है। सिद्धान्ततः सरकार ने भी इस बात को मान लिया है किन्तु उस पर अमल नहीं हो रहा है। प्रतीत होता है कि जब तक इसके विषय में जन-जागरण तथा जन आन्दोलन के द्वारा सरकार पर पर्याप्त दबाव नहीं डाला जाता, सरकार अपने आश्वासन को पूरा नहीं करेगी। इस बात को सरकार ने क्रियान्वित किया तो बनवासी मजदूरों को पर्याप्त राहत मिलेगी।

सहकारिता किन्तु योग्य हाथों में

उनकी प्रगति के लिये आवश्यक है कि उन्हें मुक्त कराया जाय—साहूकार के कर्जे से, जमीन मालिक की गुलामी से तथा ठेकेदारों की शोषक मध्यस्थता से।

यह सिद्ध करने का प्रभावी मार्ग है उनका 'बनवासी मजदूर सहकारी संस्थाओं' में गठन । तीनों योजना आयोगों ने इस बात को स्वीकार किया है ।

जंगलों में प्राप्त होने वाली वस्तुएं एकत्रित करना, उन्हें ग्रामों तथा नगरों के बाजारों में भेजना तथा बेचना; पशुओं को चराना; जलाऊ लकड़ी आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना; जहाँ सम्भव हो वहां खेती करना तथा करवाना; जंगलों के संरक्षण तथा विकास के कार्य में सहायता करना; वन्य उद्योगों का विकास करना; जंगलों के ठेका लेना; बनवासियों की सामाजिक शैक्षणिक प्रगति की योजना बनाना; आदि काम वनवासी मजदूर सहकारी संस्था के द्वारा अधिक सरलता से हो सकते हैं ।

इन कार्यों के द्वारा प्राप्त होने वाला मुनाफा संस्था के मजदूर सदस्यों को ही मिलेगा–किसी ठेकेदार को नहीं ।

शोषण से मुक्ति दी जाय

स्पष्ट है कि आज की पिछड़ी हुई अवस्था में बनवासी मजदूर स्वयं अपनी सहकारी संस्थाएं नहीं चला सकते । बन विभाग के सरकारी अधिकारियों पर भी इस विषय में भरोसा नहीं रखा जा सकता । इसलिये सेवा की प्रवृत्ति लेकर काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है । वे कार्यकर्त्ता नहीं कि जिन्होंने सहकारी आन्दोलन को अपने जीविकोपार्जन का साधन मान लिया है । (क्योंकि, वे तो बनवासी मजदूरों का ठेकेदारों से अधिक शोषण करेंगे) अपितु वे कार्यकर्त्ता जिनका हृदय अपने बन्धुओं का दुखदर्द देखकर तड़फता हो । स्वर्गीय श्री ठाकुर बाप्पा आदि के समान ही जिनका हृदय मानवतावादी तथा राष्ट्रवादी हो । इस तरह के कार्यकर्त्ता वनवासी वन्धुओं की क्षमता बढ़ाने का प्रयास करेंगे । ताकि कुछ समय के पश्चात् वे स्वयं अपनी संस्थाएं चला सकें । निश्चय ही किसी भी सहकारी संस्था की कार्यकारिणी में बाहर के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की संख्या सीमित ही रहनी चाहिये ।

राष्ट्रवादी कार्यकर्त्ताओं का आवाहन

बड़े बड़े नगरों में प्रसिद्धि के लिये उपयुक्त कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता तो सरलता से उपलब्ध होते हैं । किन्तु उपरिनिर्दिष्ट कार्य करने की इच्छा रखने

वाले लोग नहीं मिलते, यह दुर्भाग्य की बात है। इस कार्य में सस्ती प्रसिद्धि नहीं, और असुविधाएं बहुत सहनी पड़ती हैं। अरुचिकर वायुमंडल, सतत क्रियाशील रहने की आवश्यकता, सामाजिक मान्यता का अभाव, आदि कई बातें प्रतिकूल जाने वाली हैं। इन सब प्रतिकूलताओं पर मात करने की क्षमता सच्चे प्रेम में ही है। उस प्रेम से ओत-प्रोत कार्यकर्त्ताओं की इस क्षेत्र में आवश्यकता है। यह क्षेत्र राष्ट्रवादी कार्यकर्त्ताओं को मानो आवाहन कर रहा है।

संगठित उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के लिये ट्रेड यूनियन का जितना महत्व है उतना ही महत्व वनवासी मजदूरों के लिये वनवासी मजदूर सहकारी संस्था का है। उसी के माध्यम से वे प्रगति कर सकते हैं।

और इस दिशा में उनको पूरी सहायता करने का दायित्व राष्ट्रवादी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का है। राष्ट्र निर्माण कार्य का यह भी एक महत्वपूर्ण पहलू है।

पर अभी तक उस प्रमाण में लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं किया जा सका। सरकार की उदासीनता और निरीह एवं अपढ़ वनवासियों की विवशता का दुरुपयोग एवं शोषण करने की प्रवृत्ति का डट कर विरोध करने के लिये सभी जनहितकारी संस्थाओं को आगे बढ़ना चाहिये।

समाज-कल्याण संस्थाओं में

'कार्यकर्ता' बनाम 'कर्मचारी'

प्राचीन भारत में समाज-कल्याण संस्थाओं की स्वतंत्र आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि प्रत्येक नागरिक समाजकल्याण कार्यकर्ता था। 'न त्वहं कामये राज्यं··· प्राणिनामार्तिनाश्वम्।' यहां प्रत्येक की प्रवृत्ति थी। अविभक्त हिन्दू परिवार तथा जाति व्यवस्था के द्वारा वैसे भी सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। इस प्राचीन प्रवृत्ति का प्रभाव जैसे जैसे कम होता गया वैसे ही सामाजिक सुरक्षा की प्राचीन व्यवस्था भी प्रभावहीन होती गयी। इसलिए आज समाजकल्याण संस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

समाज कल्याण की भूमिका

इन संस्थाओं का सुचारु रूप से गठन प्रारम्भ में पश्चिम में हुआ। वहां ही उनकी आवश्यकता पहले अनुभव की गई। क्योंकि सामाजिक सुरक्षा की कोई भी सर्वंकश व्यवस्था उनकी समाज रचना में नहीं थी।

'प्राणिनामार्तिना शम्' यह सभी महात्माओं की स्वाभाविक प्रवृति है। इस प्रवृत्ति की आत्मा को जब किसी व्यवस्था के शरीर में डाला जाता है तब समाज कल्याण संस्था का निर्माण होता है। जैसे स्वामी विवेकानन्द जी की 'सर्वभूतहितेरतः' प्रवृत्ति का आविष्कार 'श्री रामकृष्ण मिशन' है। इस तरह के अर्थ को जीवन का व्रत समझकर चलने वाले महाभाग वन्दनीय तथा प्रातः स्मरणीय माने जाते हैं। समाज कल्याण को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझने वाले कार्यकर्ताओं की संख्या जितनी बढ़ेगी उतना ही समाज सुखी तथा सुदृढ़ होगा, इसमें संदेह नहीं। किन्तु संस्था का स्वरूप जैसे जैसे बढ़ने लगता है वैसे ही उसके दैनिक कार्य को चलाने के लिये कार्यकर्ताओं के साथ कर्मचारियों की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है।

कार्यकर्ता और कर्मचारी का निर्णय

'कार्यकर्ता' और 'कर्मचारी' ये दो परस्पर भिन्न श्रेणियाँ हैं। 'कार्यकर्ता' प्रमुख रूपसे कार्याभिमुख तथा कार्यैक-जीवन रहता है; यद्यपि प्राथमिक निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसको संस्था से कुछ नाममात्र पैसा प्राप्त होता है। 'कर्मचारी' प्रमुख रूपसे वेतनाभिमुख तथा वेतनैकजीवन रहता है; यद्यपि उसके परिश्रम के फलस्वरूप समाज कल्याण कार्य को बढ़ावा अवश्य मिलता है। कार्यकर्ता का सर्व प्रथम उद्देश्य 'कार्य' है; निजी खर्च के लिये संस्था से प्राप्त होने वाला पैसा यह आनुषंगिक बात है। कर्मचारी का सर्वप्रथम उद्देश्य 'वेतन' है; परिणाम स्वरूप होने वाला समाज कल्याण यह उसके लिये आनुषंगिक बात है। संस्था में 'कार्यकर्ता' कौन और 'कर्मचारी' कौन—इसका निर्णय पैसे से नहीं अपितु उद्देश्य के आधार पर ही हो सकता है। और यह निर्णय करने का स्वाभाविक अधिकार काम करने वाले व्यक्ति को ही होना चाहिये, न कि संस्था के संचालकों को।

मापदण्डों की भिन्नता

'कार्यकर्ता' के परिश्रम का मूल्याँकन आर्थिक परिभाषाओं में करना अन्याय है। 'कर्मचारी' के परिश्रम का मूल्याँकन नैतिक परिभाषा में करना भी अन्याय है। 'कार्यकर्ता' को कर्मचारी समझना जैसे अन्याय है, (सामाजिक तथा नैतिक अन्याय) वैसे ही, 'कर्मचारी' को कार्यकर्ता समझना भी अन्याय ही है, (आर्थिक अन्याय) अतः दोनों के लिये सामाजिक—नैतिक तथा आर्थिक मापदण्ड अलग अलग होने चाहिये।

यह स्पष्ट धारणा न होने के कारण भारत की समाज-कल्याण संस्थाओं में काम करने वाले लोगों की दुरावस्था हो रही है।

७००० समाजसेवी संस्थाएं

समाज कल्याणकारी संस्थाओं की संख्या भारत में दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अमरीका आदि देशों ने इस दिशा में जितनी प्रगति की है उसका शतांश भी हम अब तक कर नहीं सके, यह सत्य है। तो भी सत्ता के हस्तांतरण के पश्चात सामाजिक कार्यकर्ताओं की रुचि इस दिशा में बढ़ रही है, इसमें संदेह

नहीं। अकेले दिल्ली प्रदेश में ९५ संस्थाएं ऐसी हैं, जिन्हें केन्द्रीय समाज कल्याण आयोग की ओर से अनुदान प्राप्त हो रहा है। के० स० क० आयोग से आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली संस्थाओं की कुल मिला कर संख्या संपूर्ण देश में लगभग ७००० (सात हजार) है, तथा उन्हें प्राप्त होने वाली धनराशि दो करोड़ रुपये से कुछ अधिक है। इनमें अधिकतर संस्थाएं स्थानीय तथा प्रादेशिक महत्व रखने वाली है। अखिल भारतीय प्रतिष्ठा प्राप्त संस्थाओं की संख्या ३८ हैं। इन सब के उद्देश्य भिन्न भिन्न हैं, आकार भिन्न भिन्न हैं। प्रत्येक के संविधान में ग्रंथित उद्देश्य समाज कल्याण की परिधि में आने वाले हैं, यद्यपि सभी संस्थाओं के संचालक केवल मानवतावादी कल्याण से प्रेरित हैं—यह नहीं कहा जा सकता। इन सब संस्थाओं में काम करने वाले लोगों की संख्या की गिनती अब तक नहीं हुई। फिर भी यह संख्या उल्लेखनीय होगी, यह निश्चित ही है।

असंतुष्टि का कारण

सामान्यतः इन संस्थाओं के विषय में दो तरह की शिकायतें रहती हैं। एक तो यह कि यदि संस्थाओं का संचालन सूत्र धनी, लब्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हाथों में रहा तो वे जीवन व्रती कार्यकर्ताओं की प्रतिष्ठा समझ नहीं सकते, उन्हें उचित सम्मान नहीं दे सकते, उन्हें केवल वेतनभोगी कर्मचारियों के समान ही मानते हैं। पर यह बात जीवन व्रतियों के लिये असह्य है और दूसरा यह कि वेतनभोगी कर्मचारियों से ये संचालक कार्यकर्ता के समान ही त्याग की अपेक्षा करते हैं—कम से कम पैसा देकर उपदेश करते हैं—अपना पैसा बचाने के लिए। यद्यपि संचालकों के स्वयं अपने खर्चों में किसी भी तरह का संयम दिखाई नहीं देता। इस कारण से दोनों श्रेणियां असंतुष्ट ही रहती हैं।

भारत सेवक समाज का उदाहरण

कुछ दिन पूर्व भारत सेवक समाज के कुछ कर्मचारियों से बात-चीत करने का सौभाग्य मिला। वे 'कर्मचारी' थे। अपने परिवार के पेट पालने के लिए कहीं न कहीं नौकरी ढूढ़ रहे थे। भारत सेवक समाज में नौकरियां हैं—उन्हें यह पता लगा। इसलिये वे वहाँ पहुंचे। वैसे हृदय से वे मानवतावादी थे। किन्तु पारिवारिक जिम्मेवारियों के बोझ के कारण वे 'कार्यकर्ता' नहीं बन सकते थे। उनकी वेतन श्रेणियां तथा समाज सेवा की शर्तें असंतोषजनक थीं। किन्तु उन्हें बताया

गया था कि यह समाज कल्याण संस्था है, इसमें अधिक पारिश्रमिक की मांग करनी नहीं चाहिये। आर्थिक दृष्टि से 'समाज' में अन्याय होगा यह कल्पना पहले से रहती तो और कहीं नौकरी ढूढ़ लेते। जो भारत सेवक समाज सम्पूर्ण भारत का कल्याण करने के हेतु निकला है वह अपने ही कर्मचारियों का अकल्याण करेगा, यह उन्होंने कभी सोचा नहीं था। फिर वे यह भी जानते थे कि भारत सेवक समाज ने कई निर्माण कार्यों के ठेके लिये हैं, उनमें से लाखों रुपये की प्राप्ति की है, उसके आधार पर समाज के संचालक अपने नाजायज खर्चे भी चला रहे हैं; इन सब बातों को देखते हुए वे सोच रहे थे कि अपनी एक ट्रेड यूनियन बनाई जाय। तो उसी समय माननीय नन्दा जी ने उन्हें बताया कि किसी भी हालत में मैं तुम्हारी ट्रेड यूनियन रजिस्टर नहीं होने दूंगा, क्योंकि भारत सेवक समाज 'समाज कल्याण' संस्था है।

यह सब सुनकर मैं सोचने लगा कि क्या माननीय नन्दा जी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ तर्क सही है? इसी तरह का वैचारिक संभ्रम लगभग सभी समाज-कल्याण संस्थाओं में है।

ये संस्थाएं ठीक ढंग से चलें–इसलिए तीन बातें आवश्यक हैं। एक यह कि संचालन उन लोगों के हाथों में रहे जो हृदय से प्राणिमात्र पर प्रेम करते हैं। क्योंकि समाज कल्याण संस्था में प्राप्त किये हुए पद को अपना राजनैतिक साधन समझने वाले उच्च पदस्थ पैसे वालों के हाथों में संचालन जाने से संस्था का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह कि जीवन व्रती कार्यकर्ताओं का नैतिक प्रभुत्व संस्था में रहे। संस्था की दृष्टि से यह जीवन मूल्य का प्रश्न है। भौतिक वैभव के मूल्य को प्रमाण मानकर समाज कल्याण संस्था नहीं चल सकती। उसके लिये नैतिक मूल्यों की ही आवश्यकता है। पर पीड़ा दूर करने के लिये जिन्होंने स्वयम् स्वीकृत दारिद्र का स्वेच्छा से स्वागत किया है, उन कार्यकर्ताओं की अपेक्षा हृदय-शून्य धनी लोगों को यदि अधिक प्रतिष्ठा किसी समाज कल्याण संस्था में प्राप्त होने लगी तो यह निश्चय समझना चाहिये कि वह संस्था अधिक दिन तक अपना सच्चा कार्य नहीं कर सकेगी। तीसरी बात यह कि कर्मचारी वर्ग को वेतन श्रेणियों तथा सेवा की शर्तों के विषय में अन्य नियमित लोगों व उद्योगों के कर्मचारियों के स्तर पर लाया जाय। उनका 'कर्मचारित्व' स्वीकार किया जाय। उस दृष्टि से उन्हें इंडियन ट्रेड यूनियन ऐक्ट तथा औद्योगिक विवाद अधिनियम का पूरा संरक्षण उपलब्ध कर दिया जाय तथा आर्थिक

मूल्यों के आधार पर ही उनके साथ संचालकों का व्यवहार रहे। ये तीनों बातें सिद्ध करने का दायित्व केन्द्रीय समाज मण्डल का है। अब यह मण्डल एक *Statutory Body* बनने जा रहा है। आर्थिक सहायता या अनुदान के लिए उपरिनिर्दिष्ठ तीनों शर्तों की पूर्ति यह एक पूर्व शर्त घोषित करनी चाहिए। समाज कल्याण संस्थाओं को वास्तविक कल्याण कार्य बनाने का यह प्रभावशाली मार्ग है।

घरेलू नौकर

दो दर्ष पूर्व दिल्ली की घरेलू नौकरों की यूनियनों ने विशाल प्रदर्शन किया था। उनके आन्दोलन के कारण देशवासियों का ध्यान उनकी समस्याओं पर केन्द्रित हुआ। देश का शासकीय केन्द्र होने के कारण यह स्वाभाविक ही है कि दिल्ली का कोई भी आन्दोलन देश का ध्यान आकृष्ट कर ले।

'घरेलू नौकरों' की प्रमुख रूप से दो श्रेणियां हैं। एक तो वे नौकर जो वास्तव में 'घरेलू' हैं। दूसरे वे जो केवल नाम के 'घरेलू' कर्मचारी कहे जाते हैं।

बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों में काम करने वाले उच्चपदस्थ अधिकारियों की कुछ बुरी आदतें होती हैं। मिलों या कारखानों में उनके नीचे काम करने वाले चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों का उपयोग वे अपने घरेलू काम के लिये कर लेते हैं। यह एक तरह का बेगार ही है। जो अवैध भी है तथा अनैतिक भी। बेचारा छोटा कर्मचारी इसका प्रतिकार भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतिकार के फल-स्वरूप उसको नौकरी से हटाया जाता है।

कुछ कर्मचारी औद्योगिक संस्थानों में नौकरी पाते हैं। किन्तु उन्हें कारखानों के काम के साथ-साथ घरेलू काम भी बताया जाता है। और धीरे-धीरे उनकी गिनती घरेलू कर्मचारियों में ही की जाती है। इसलिये कि उन्हें औद्योगिक कानून की परिधि के बाहर लाया जाय तथा औद्योगिक कानून के संरक्षण से वंचित रखा जाय। ये ही तथाकथित 'घरेलू' कर्मचारी हैं। इन्हें 'घरेलू' कहना अन्याय है। वस्तुतः ये 'औद्योगिक' कर्मचारी हैं। और उसी नाते उन्हें कानून का पूरा संरक्षण भी प्राप्त होना चाहिये।

वास्तविक 'घरेलू' नौकरों की संख्या देश में बहुत है। किन्तु उनकी गिनती न हुई है न होने वाली है। देहातों में घरेलू नौकरी करने वालों की स्थिति परिवारों के सदस्यों के समान ही रहती है। गांवों में घरेलू नौकर स्वयं अपने को मालिक के परिवार का ही एक अंग न माने तो वह ज्यादा दिन तक वहां रुक

नहीं सकेगा। वैसे ही, मालिक नौकर को पारिवारिक जन न मानें तो ज्यादा दिन तक वह उससे काम नहीं ले सकेगा। इस अन्योन्याश्रितत्व को मालिक तथा नौकर दोनों अच्छी तरह से समझते हैं। इसलिये देहातों में घरेलू नौकरों के विवाद निर्माण नहीं होते। इतना ही नहीं एक बार नौकर का प्रवेश मकान में होने के पश्चात् मालिक की भी धारणा यही रहती है कि यह आजीवन अपने परिवार का सदस्य बन रहा है। नौकर की इसी भावना को प्रतिसाद देता है। बड़े नगरों में परिस्थिति भिन्न रहती है। औद्योगिक वायुमण्डल का प्रभाव मालिक तथा नौकर दोनों पर रहता है। परिणाम स्वरूप पारिवारिकत्व की भावना दोनों के मन में निर्माण नहीं होती। कारखानों में मालिक मजदूर सम्बन्ध जिस तरह के होते हैं उसी तरह के मकानों में भी होने चाहिये, यह भावना दोनों के मन में रहती है। उसी तरह का पारस्परिक व्यवहार दोनों करते रहते हैं। इसी कारण घरेलू नौकरों में यह धारणा प्रकट रूप से विद्यमान रहती है कि कारखानों के कर्मचारियों के समान ही उनकी भी ट्रेड यूनियन होनी चाहिये और उन्हें भी औद्योगिक कानून का संरक्षण प्राप्त होना चाहिये।

वैसे देखा जाय तो कारखाने के मजदूर और घरेलू कर्मचारी दोनों की सेवा की स्थितियों में महान अन्तर है। कारखानों में मालिक–मजदूरों के बीच प्रत्यक्ष, मानवीय सम्बन्धों का अभाव रहता है। मकानों में प्रत्यक्ष, मानवीय सम्बन्धों को छोड़कर एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। फिर कारखाने में काम करने वाला हर एक मजदूर चाहता है कि उसकी नौकरी स्थायी हो। नौकरी की सुरक्षितता उसकी एक प्रमुख माँग है। शहरों में काम करने वाले घरेलू नौकरों में थोड़े ही लोग ऐसे होते हैं जो कि अपनी घरेलू नौकरी को ही स्थायी बनाना पसन्द करेंगे। प्रारम्भिक अनिश्चितता की परिस्थिति में से सुरक्षित औद्योगिक नौकरी की स्थिति में पहुंचने के लिये बीच में ही एक सीढ़ी के नाते घरेलू नौकरी का स्वीकार करने वालों की ही संख्या अधिक हुआ करती है। अतः वे नौकरी का स्थायित्व नहीं चाहते। मालिक की इस बात को समझते हैं।

वाणिज्य तथा औद्योगिक संस्थानों में काम का स्वरूप इस तरह का होता है कि उनमें काम करने वाले मजदूरों के काम के घन्टे निश्चित करना सम्भव होता है। घर में यह सम्भव नहीं है। एक तो काम का स्वरूप भिन्न है, फिर घरेलू काम भी एक ही ढंग का नहीं होता। कुछ नौकरों को २४ घण्टा मालिक के मकान में रहना पड़ता है। काम का बोझ कम रहे या ज्यादा, काम रहे या

न रहें। मकान में २४ घंटा उपलब्ध रहना यह भी उनकी सेवा की एक शर्त हुआ करती है। तो दूसरी ओर कुछ नौकर ऐसे हुआ करते हैं कि जो किसी एक मकान से संलग्न नहीं रहते, तो दिन में १५-२० मकानों में अलग-अलग समय पर जाकर सफाई, झाड़ू लगाना, बर्तन मांजना, कपड़े धोना आदि काम कर लेते हैं। वे हर मकान में थोड़ा-थोड़ा समय देते हैं। उनको यदि कहो कि दिन में ८ घंटा एक ही परिवार का काम करना चाहिये तो वे नहीं मानेंगे। और यह भी व्यावहारिकता के प्रतिकूल ही है कि मालिक को यह कहा जाय कि हर ८वें घंटे के बाद तुम दूसरे नौकर को काम पर लगा लो।

विभिन्न दृष्टिओं से विचार करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि औद्योगिक मजदूरों की स्थिति और घरेलू नौकरों की स्थिति में बहुत अन्तर है।

इसीलिये इनकी समस्या की सुलझन औद्योगिक मजदूरों की समस्या की तरह औद्योगिक कानून के द्वारा नहीं निकल सकती। औद्योगिक कानून इनके लिये लागू तो किया जा सकता है, किन्तु केवल कानून के सहारे न तो घरेलू नौकर चल सकते हैं न उन्हें चलाया ही जा सकता है। *Contract* विषयक विद्यमान कानून में कुछ संशोधन घरेलू नौकरों के हितों की दृष्टि से किये जा सकते हैं। जिनका स्वरूप उदारता से परिपूर्ण रहे। इसी उद्देश्य से घरेलू नौकरों को सर्वसाधारण संरक्षण देने वाला स्थूल कानून बनाया जा सकता है किन्तु वह बहुत ही स्थूल स्वरूप का होना चाहिये। औद्योगिक विवाद अधि-नियम इनके लिये लागू किया गया तो भी उसका संरक्षण प्राप्त कराना इनके व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव ही है। देहातों के ही समान नगरों में भी मालिक तथा घरेलू नौकर-दोनों के हितों की दृष्टि से पारिवारिकत्व की आवश्यकता है। पारिवारिकत्व के अभाव में दोनों का नुकसान अपरिहार्य है।

कुछ दशक पूर्व एक परिस्थिति ऐसी थी कि जिसमें घरेलू नौकर पूर्णरूपेण विवश, असहाय हुआ करता था। आज वह स्थिति बदल रही है। पश्चिम में औद्योगीकरण जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे घरेलू नौकरों की संख्या घटती गई। क्योंकि बढ़ते हुए औद्योगीकरण में घरेलू नौकरों के समान अप्रशिक्षित (*Unskiled*) कर्मचारियों के परिश्रम की भी खपत होती है। आज भारत की कुछ मात्रा में उसी स्थिति का अनुभव कर रहा है। जहां-जहां बड़े उद्योग चल रहे हैं वहां-वहां

समीपवर्ती क्षेत्रों में घरेलू नौकरों की कमी का सभी अनुभव करते हैं। औद्योगीकरण की गति तथा उसका क्षेत्र बढ़ने ही वाला है। इसके फलस्वरूप घरेलू नौकरों की संख्या दिन-प्रतिदिन घटने वाली है। 'मांग तथा पूर्ति' के आर्थिक नियम के अनुसार इस नवीन परिस्थिति में घरेलू नौकरों की प्रतिष्ठा तथा शक्ति स्वाभाविक रूप से बढ़ने वाली है। अतः उनकी विवशता धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से कम होने वाली है। विस्तृत औद्योगीकरण के कारण घरेलू नौकरों की व्यक्तिगत सौदे की शक्ति भी बढ़ने वाली है। परिस्थितियों में जो नया मोड़ आ रहा है उसके कारण उनका भविष्य अधिक सुरक्षित तथा सुखमय रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अपराधी जातियों की समस्या

नागपूर जिले के मकरधोकका नामक ग्राम में मुझे निमंत्रित किया गया था। 'भामटी' जाति की महिलाओं के लिये सिलाई के वर्ग का उद्घाटन करना था। 'भामटी' जाति की गिनती 'भूतपूर्व अपराधी जातियों' में (*Ex-criminal tribes*) होती है। इन जातियों को अब शासन द्वारा 'विमुक्त जातियाँ' की संज्ञा दी गई है।

'विमुक्त जातियां' भारत की श्रमशक्ति में महत्वपूर्ण योग प्रदान कर सकती हैं। वे बीजीभूत श्रमिक हैं। किंतु अपवादात्मक थोड़े उदाहरण छोड़ दिये तो यही कहा जा सकता है कि आज देश विमुक्त जातियों की श्रम शक्ति के लाभ से वंचित ही है।

इन जातियों का परंपरागत, आनुवंशिक उद्योग 'गुनाह' या 'अपराध' ही है। वैसे देखा जाय तो गुनाह करने की प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य समाज। किन्तु पितृपरंपरागत, आनुवांशिक उद्योग के नाते 'अपराध' या गुनाह करने वाली जातियां हमारे देश में ही पाई जाती है, अन्यत्र नहीं। अपराध के माध्यम से पैसा कमाना उन्हें अधिक सरल प्रतीत होता है। और इन जातियों में पैदा हुये बच्चे अपराध का स्वीकर स्वाभाविक रूप से ही करते हैं। वह उनकी आनुवंशिक प्रकृति ही बन जाती है।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के मानव वंश शास्त्र के अध्यापक *Dr. R. H. Lowie* ने अपनी *'Primitive Society'* पुस्तक में बताया है कि 'सहवास' (*Association*) अपराधी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम तथा सर्वप्रमुख कारण है। मानसिक स्वस्थता तथा संतुलन का अभाव, और मानसिक विकृतियां-यह अपराधी जातियों की विशेषता है। वैसे ही, समाज भी उनकी उपेक्षा करता है। वे अर्द्धनग्न तथा भूखे रहते हैं। समाज के अन्य विभागों को प्राप्त होने वाली कई सुख-सुविधाओं तथा सहूलियतों से वंचित है। उनके जीवन तथा मनोविज्ञान के कई

पहलुओं के विषय में समाज अब तक अनभिज्ञ ही है। विदर्भ की अपराधी जातियों के विषय में कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं :—

विमुक्त जातियों को यह विश्वास है कि कुछ भी काम न करते हुए तुरन्त पैसा प्राप्त किया जा सकता है, और वैसा करना भी चाहिये।

वे वेषांतर करते हुये स्वयम् अपने को मारवाड़ी, बनिया, फकीर, साधु या ब्राह्मण बताते हैं।

कुछ जातियों में जंचगी (*delivery*) के कुछ दिन पूर्व महिलाएं दुकानों में चोरियां कर स्वयं अपने को दण्डित करवा लेती हैं। ताकि जेल में उन्हें भोजन, विश्राम प्राप्त हो तथा जंचगी की व्यवस्था सरकारी खर्चे से हो।

बेगर्स होम्स्, रेलवे स्टेशन्स्, रिमाण्ड होम्स् तथा पुलिस स्टेशन्स् में ये लोग प्रमुख रूप से पाये जाते हैं।

इन जातियों में किसी भी युवक को तब तक विवाह योग्य नहीं माना जाता जब तक वह चौर्य कर्म में अपनी कुशलता प्रस्थापित नहीं करता। मांगगारू की जाति में कई व्यक्तियों को पौढ़त्व तक इसीलिये अविवाहित रहना पड़ता है कि तब तक बड़ी चोरी करने में वे सफल नहीं हुये।

कुछ विमुक्त जातियों में लड़कियां अपने प्रेमियों से तभी विवाह करती हैं जब वे कम से कम १४ बार जेल में जाकर वापिस लौटते हैं। चौदह से कम बार जेल जाने वालों का विवाह होता ही नहीं।

कुछ विमुक्त जातियों में महिलायें वेश्या व्यवसाय के द्वारा या अनैतिक अपराधों के द्वारा तथा पुरुष डकैती, चोरी, खूनखराबी आदि अपराधों के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं।

अपने एक गिरोह का संदेशा दूसरे गिरोह को पहुंचाने के लिये तथा साधारण वेश में घूमने वाले पुलिस, सी० आई० डी० की खोज करने के लिये ये लोग कुत्तों का उपयोग करते हैं।

बिलकुल बचपन से ही माता-पिता अपने लड़कों को परम्परा प्राप्त अपराधी पेशे की शिक्षा-दीक्षा देते हैं।

कैकाडी जाति में पति के जेल में जाने के पश्चात् पत्नियां उतने समय तक दूसरों के पास रहती हैं। पति के वापिस लौटने के बाद वे भी वापिस आ जाती हैं। इस जाति में पुरुषों की अपेक्षा महिलायें ज्यादा अपराधी तथा खतरनाक होती हैं।

भामटा, ढग, बढक, बेरड, येरुकल, पैलमार, केम्पाडी, कारवलनू आदि जातियों के लोग पोस्ट आफिस, रेलवे स्टेशन, बैंक्स तथा सरकारी खजानों से चोरी करने में विशेषज्ञ हैं।

वैसे तो हरएक जाति का आनुवंशिक अपराधी पेशा अलग-अलग हैं और वे अपने ही पेशे के अपराध में *Specialisation* करते रहते हैं।

यह कहना तो सरल है कि उनकी प्रवृत्तियां समाज विरोधी हैं, और उनमें परिवर्तन लाना चाहिये किन्तु यह बात उनसे घृणा या तुच्छता रखने से नहीं हो सकती। उनकी समस्या का विचार सहानुभूति तथा आत्मीयता के आधार पर होना चाहिये।

विमुक्त जातियों के साथ उर्वरित समाज को सम्पर्क प्रस्थापित करने की आवश्यकता है। उन्हें भिन्न जीवन मूल्यों का परिचय करा देने की आवश्यकता है। यह पारस्परिक सहवास से ही सिद्ध हो सकता है। परिस्थिति के दबाव के कारण भूतकाल में उन्होंने विवश होकर अपराधी पेशों को स्वीकार किया होगा। आज परिस्थितियों में परिवर्तन आया है। आज उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा तथा प्रतिष्ठित पेशा प्रदान करने के लिये समाज तैय्यार है। तदनुकूल भारत की नियमित श्रमशक्ति का अंग बनकर रहने में उनकी तथा देश का कल्याण है। ये सारी बातें पारस्परिक प्रेम के आधार पर उन्हें समझानी चाहिये।

नवजागृत विमुक्त जातियों ने अपनी संस्था का निर्माण किया है। उनके विदर्भ फेडरेशन ने निम्न मांगें सरकार के सामने रखी है :—

(१) विमुक्त जातियों की स्वतन्त्र, सर्वंकष सूची (तालिका) का निर्माण;

(२) उनके लिये स्वतन्त्र आयोग की नियुक्ति;

(३) उनके हितों की रक्षा करने के लिये केन्द्रीय गृहमन्त्रालय के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र, अखिल भारतीय कमीशन (*Commission*) की नियुक्ति;

(४) उनके विषय में तथा उनके हित की दृष्टि से आवश्यक तथ्य तथा आंकड़े एकत्रित करने के लिये उन जातियों के ही कुछ व्यक्तियों की प्रदेशवार नियुक्ति;

(५) विभागीय स्तर पर उनके लड़कों के लिये होस्टेल्स का निर्माण तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करने के हेतु उनकी विशेष *Colonies* का निर्माण;

(६) विभिन्न विधानसभा, परिषदों तथा लोकसभा–राज्यसभा में उनके प्रतिनिधियों की नियुक्ति ।

यद्यपि विदर्भ फेडरेशन के नेता वास्तव में राष्ट्रवादी हैं तो भी वाह्य राजनैतिक वायुमण्ड़ल के प्रभाव में आकर उन्होंने जो उपर्युक्त मांगें सामने रखी हैं उनके फलस्वरूप—उनकी इच्छा न रहते हुए भी—सामाजिक विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल सकता है । अतः केवल संवैधानिक साधनों का ही अवलम्बन न करते हुए सामाजिक एकात्मता की भावना के आधार पर भी विमुक्त जातियों को सही मार्गदर्शन करना चाहिये । समाज का भी यह कर्तव्य है कि वह इस समस्या की वास्तविकता को स्वीकार करे तथा नियमित श्रमशक्ति में शामिल होने की दृष्टि से सभी सहूलियतें विमुक्त जातियों को प्रदान करे ।

उत्पादकता और मजदूर

अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संस्था (*I. L. O.*) द्वारा प्रकाशित *'Higher Productivity in Manufacturing Industries'* तथा उत्पादकता मण्डल (*Productivity Council*) द्वारा प्रकाशित साहित्य के माध्यम से मजदूरों को 'उत्पादकता' के विषय में प्राथमिक जानकारी प्राप्त हुई है। 'उत्पादकता' के माने केवल उत्पादन नहीं। साथ ही उत्पादकता–अभियान का यह भी मन्तव्य नहीं है कि मजदूरों का अधिकाधिक शोषण किया जाय, उन पर काम का बोझ बढ़ाया जाय, काम की गति में वृद्धि की जाय, 'अभिनवीकरण' के नाम पर श्रम बचाऊ योजनाओं के द्वारा उनकी छटनी की जाय, या बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि की जाय। कम से कम समय तथा न्यूनतम परिश्रम के द्वारा अधिक विस्तृत पैमाने पर अधिक अच्छे दर्जे का उत्पादन हो—यही इस अभियान का उद्देश्य है। ये सारी बातें मजदूरों ने सुनी हैं। उत्पादकता बढ़ाने से उत्पादन बढ़ेगा, राष्ट्रीय आय बढ़ेगी, फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। मजदूरों को अधिक वेतन, मालिकों को अधिक मुनाफा, सरकार के लिये अधिक करों की प्राप्ति तथा उपभोक्ताओं को न्यूनतम मूल्य में अधिकतम वस्तुएं—ये सारी चीजें सबको प्राप्त होंगी, यह भी मजदूरों को बताया गया है। तथा यह आवाहन भी उन्होंने सुना है कि इन सब बातों के लिये संयुक्त सलाहकार समितियों के माध्यम से उन्हें अपना सहयोग प्रदान करना चाहिये।

मजदूरों की प्रतिक्रिया

इस आवाहन के प्रति मजदूरों की प्रतिक्रिया क्या है? इस अभियान का उन्होंने विरोध किया है–ऐसा नहीं कहा जा सकता। उत्पादन बढ़ रहा है। सन् १९५८ के पश्चात् हड़ताल के कारण नष्ट हुए काम के घण्टों की संख्या पहले की अपेक्षा कम होती जा रही है। उत्पादकता से मजदूरों ने असहयोग नहीं किया, किन्तु साथ-साथ यह भी सत्य है कि उत्पादकता के विषय में उनके मन में उत्साह

भी नहीं है क्योंकि उत्पादकता-अभियान की फलश्रुति के विषय में उनके मन में सन्देह है।

सकारण सन्देह

सन्देह के लिये कारण भी है। सन् १९३१ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस द्वारा पारित किया हुआ 'श्रमनीति विषयक प्रस्ताव'; सन् १९४७ का 'औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव'; सन् १९४८ का 'औद्योगिक नीति विषयक वक्तव्य'; सन् १९५० में भारतीय संविधान में अन्तर्भूत किया हुआ 'आदेशात्मक सिद्धान्त'; और तीनो पंचवार्षिक योजनाओं के 'श्रमनीति विषयक समासों में ग्रंथित किये हुये उद्देश्य',-इन सबके भीतर जो एक सूत्र है उस पर सर्वंकष विचार किया गया तो मजदूरों के निरुत्साह के कारण ध्यान में आ सकते हैं।

वास्तव में सत्ता के हस्तान्तरण के पश्चात् काँग्रेस सरकार के बनाये हुए बहुत सारे कानूनों का तथा तदन्तर्गत मशीनरियों का सूत्रपात अंग्रेज सरकार ने ही किया था। उसमें हमारी निजी प्रतिभा का अंश अल्प ही है। अंग्रेज सरकार ने द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों के श्रम-मंत्रियों के परिषद की परिपाटी प्रारम्भ की, सन् १९४२ में त्रिदलीय मशिनरी का सूत्रपात किया और सन् १९४५ में *Employment Exchange* व्यवस्था का निर्माण किया। और सन् १९४६ में उन्होंने एक पंचवार्षिक कार्यक्रम की परिकल्पना की। मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के लिये पांच वर्ष की अवधि में कार्यान्वित करने योग्य कानून सम्बन्धी तथा शासन सम्बन्धी उपाय योजनाओं का वह कार्यक्रम था। उसी का कानून विषयक हिस्सा प्रत्यक्ष में लाने का कार्य काँग्रेस सरकार ने किया। श्रमिक-कानून का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा १९४६ से १९५२ तक पारित किया गया। सत्ता के हस्तान्तरण के पश्चात् श्रमिकों को दिये गये आश्वासनों का इतिहास निराशाजनक है। एक सामान्य प्रमाण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होगा। प्रथम योजना के अन्तर्निहित उद्देश्य थोड़े ही परिवर्तन के साथ द्वितीय योजना में भी समाविष्ट किये गये। और इन दो योजनाओं में निविष्ट उद्देश्य भी किंचित् परिवर्तन के साथ तृतीय योजना में भी विद्यमान है। तृतीय योजना की श्रम-नीति में कोई भी नई बात दिखाई नहीं देती। इसका मतलब यह है कि प्रथम तथा द्वितीय योजना के उद्देश्य वैसे ही असफल व अधूरे रहे। इस तरह के पूर्वानुभव के कारण मजदूरों का मुख पहले ही दूध से जला हुआ है। अब वे मट्ठे को भी फूंक कर पीना चाहते हैं-इसमें उनका कोई दोष नहीं है।

उत्पादकता के शत्रु-मित्र

भारतीय श्रमिक प्रकृत्या देशभक्त हैं। देश के लिये बड़े से बड़ा स्वार्थ त्याग करने के लिये वह सिद्ध हो सकता है। किन्तु त्याग का आवाहन उचित ढंग से एवं तदनुकूल वायुमण्डल में किया जाय यह आवश्यक है। कोई भी सितार तब तक अपेक्षित स्वर नहीं निकाल सकती जब तक उसकी तार उचित स्थान पर छेड़ी नहीं जाती।

श्रमिक नेताओं की गिनती दो विभागों में की जा सकती है। देशभक्त और परदेशभक्त। परदेशभक्त समूहवादियों की यूनियन्स ऊपर से दिखाने के लिये तो उत्पादकता-अभियान का समर्थन करते हैं किन्तु उनके मन में यह निश्चय है कि इस अभियान को असफल करके ही दिखायेंगे। क्योंकि इसके फलस्वरूप देश समृद्ध हुआ तो उनके अन्तिम उद्देश्य सफल नहीं हो सकते। देशभक्त श्रमिक नेतागण-फिर वे किसी भी संगठन के क्यों न हों, देश की समृद्धि की कामना रखते हैं। श्रमिक जगत में अपने शत्रु कौन और मित्र कौन-इसका ज्ञान उत्पादकता अभियान को चलाने वालों को ठीक ढंग से कर लेना चाहिए।

औद्योगिक सम्बन्ध

उत्पादकता वृद्धि की सफलता औद्योगिक सम्बंधों की मधुरता पर अवलंबित है। दुर्भाग्य से हमारे देश में यह माना जाता है कि औद्योगिक सम्बन्ध याने केवल मालिक-मजदूर सम्बन्ध। वस्तुतः यह अर्द्धसत्य है। औद्योगिक सम्बन्धों के लिये तीसरी और महत्वपूर्ण पार्टी के है-समूचा राष्ट्र, अर्थात् समाज, तात्पर्य उपभोक्ता। औद्योगिक सम्बन्ध के लिये एक पार्टी के नाते आज यहां उपभोक्ता को मान्यता नहीं है। वह स्वयं भी इस विषय में उदासीन है। अतः आज उपभोक्ता उपेक्षित है।

उपभोक्ताओं के हित सम्बन्ध भी कोई चीज है, और वह विचारणीय एवं संरक्षणीय है—इसका साक्षात्कार सरकार को या नियोजन मण्डल को नहीं है और यह बात तृतीय पंचवार्षिक योजना से भी स्पष्ट होती है। तो भी सत्यस्थिति यह है कि औद्योगिक सम्बन्धों का सुयोग्य नियमन उपभोक्ताओं की सजग संस्थाओं के ही द्वारा अधिक सुलभ तथा संभावनीय हैं। मालिक तथा मजदूरों के संगठन, सामूहिक सौदे तथा संघर्ष, श्रम-कानून तथा तदन्तर्गत विभिन्न रचनायें, और

न्यायालय,—इन सबकी इस विषय में जितनी उपयुक्तता है उससे भी अधिक उपयुक्तता उपभोक्ता–संगठन की है। उत्पादकता–अभियान को इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये।

तंत्रज्ञ और व्यवस्थापक

औद्योगिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करने वाला एक वर्ग है जिसकी उपेक्षा कानून तथा नेताओं के द्वारा हो रही है। यह वर्ग है तंत्रज्ञ तथा व्यवस्थापकों का उत्पादकता बृद्धि के कार्य में इनका विशेष स्थान है। इनमें से बहुतांश लोगों को श्रमिक कानून का संरक्षण आज उपलब्ध नहीं है। सर्वसाधारण कानून का संरक्षण पर्याप्त मात्रा में नहीं है। मजदूरों के समान ये असहाय तो नहीं, किन्तु तो भी इन्हें अधिक संरक्षण की आवश्यकता है। या तो श्रमिक कानून में कुछ हेर फेर करते हुए उसे लागू करना चाहिये या इनके लिये विशेष कानून बनाना चाहिये। साथ ही केवल तांत्रिक अनुभव के लेन देन के लिए ही नहीं, अपितु उनके हितों की रक्षा के लिये–उनकी ढीली ही क्यों न हों--संस्थायें संगठित होनी चाहिए।

व्यवस्थापकीय शासन संस्था

इस सम्बन्ध में और एक विचार यह भी है कि जैसे-जैसे औद्योगिक तंत्र की बृद्धि होगी वैसे-वैसे एक नई तथा अनपेक्षित रचना का विकास होगा जो कि भारतीय अर्थ रचना या पूंजीवादी समाजवाद से एकदम भिन्न रहेगी। इस रचना के अन्तर्गत औद्योगिक क्षेत्र का वास्तविक प्रभुत्व औद्योगिक तंत्रज्ञ व्यवस्थापकों के हाथ में रहेगा। इस रचना में एक ओर मालिक-मजदूर और दूसरी ओर जनता–शासक निष्प्रभ बन जायेंगे। इसी को व्यवस्थापकीय शासन संस्था की संज्ञा से हम परिचित हो सकते हैं। यह स्थिति वांछनीय है या अवांछनीय इसका पूरा विचार उत्पादकता अभियान को करना चाहिये।

मालिक मजदूर सम्बन्ध

मालिक तथा मजदूरों की आज की मनोवृत्ति में देश-भक्ति के आधार पर मौलिक परिवर्तन जब तक नहीं होता तब तक उत्पादकता बृद्धि असम्भव ही है।

सर्वंकष परिकल्पना की आवश्यकता

मजदूरों को यह विश्वास होना चाहिये कि उत्पादकता बृद्धि का विच वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। इस विषय से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों का विच अलग-अलग करना यह एक बात है और सभी क्षेत्रों का युगपद सर्वंकष विच यह दूसरी बात है। पहला विचार तंत्रज्ञ कर सकते हैं दूसरा विचार अर्थशास्त्र की कक्षा में आता है। सर्वंकष विचार तथा परिकल्पना तैयार होने के पश्च भी उसमें कुछ क्षेत्रों को अग्रक्रम देना होगा। सम्भव है कि आज उत्पादक अभियान ने जिन क्षेत्रों का विचार हाथ में लिया है, उन्हीं को शायद अग्रक प्राप्त हो। किन्तु सम्पूर्ण कल्पना तैयार होने के पश्चात् उसमें अग्रक्रम निश्चि करना यह एक बात है व और इस तरह की परिकल्पना के अभाव में टुकड़ो टुकड़ों में विचार करना यह बात अलग है। दूसरी पद्धति में एक धोखा भी है एकाध छोटे औद्योगिक क्षेत्र में प्राप्त हुये अच्छे प्रगति का अभिनन्दन हम आज करें और कल यह बात हमारे ध्यान में आजाय कि इस छोटी प्रगति का विपरीत या प्रतिकूल परिणाम दूसरे किसी बड़े औद्योगिक क्षेत्र पर हुआ है। अतः इस विषय में *Intigrated thinking* की आवश्यकता है।

भारतीय तंत्रशास्त्र का विकास

तंत्र ज्ञान के सहारे ही हम उत्पादकता बृद्धि करेंगे। किन्तु इस विषय में परिचय का अंधानुकरण हमारे लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि हम उनकी सभी तंत्र विद्यायें ज्ञात करलें किन्तु उन्हें जैसा का तैसा उपयोग में लाना इष्ट नहीं है। हमारी परम्परायें, परिस्थितियां तथा आवश्यकताओं का विचार कर पश्चिम के कुछ तंत्र हम जैसे कि तैसे स्वीकार कर सकेंगे, कुछ तंत्रों में उपयुक्त हेर फेर करने होंगे, और कुछ तन्त्रों का सर्वथैव त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि हमारी परम्परायें तथा परिस्थितियां पश्चिम से भिन्न हैं। पश्चिम की समस्या है कम से कम हाथों के द्वारा अधिकतम उत्पादन। हमारी सर्वप्रमुख समस्या है–देश के सभी हाथों को पर्याप्त काम देना। अतः पश्चिम की तंत्र विद्या का अध्ययन करने के पश्चात् यह आवश्यक होगा कि हम अपनी निजी प्रतिभा के आधार पर अपनी निजी तंत्र-विद्या का विकास करें। ऐतिहासिक तथा परिस्थिति-जन्य कारणों से जहां अपरिहार्य होगा वहां बड़े उद्योगों का उपयोग तथा विकास, किन्तु अद्यावत यांत्रिकीकृत लघु कुटीरोद्योगों के द्वारा और विकेन्द्रित उत्पादन प्रक्रियाओं के विषय में आग्रह–यह हमारी औद्योगिक रचना की विशेषता रहेगी।

इस दृष्टि से हमारा दायित्व है कि हम इस तरह की अभिनव तथा विशुद्ध भारतीय तंत्र विद्या का विकास करें कि जिसके फलस्वरूप आज उपलब्ध उत्पादन-साधनों का न्यूनतम विपूंजीकरण (*De-capitalisation*) हो, उपलब्ध व्यवस्थापकीय तथा तांत्रिक कौशल अनुपयुक्त न बने, उपलब्ध छोटी-छोटी पूंजियां सहकारी संस्थाओं में न डालते हुए भी पूंजी के नाते उपयुक्त सिद्ध हो सके, उपलब्ध श्रमिक कारीगरों को अधिक समय न बिताते हुये तथा असह्य परिश्रम न उठाते हुए नया तंत्र सीखना संभवनीय हो, तथा कारखाने के स्थान पर परिवार उत्पादन का केन्द्र बने।

तंत्र विद्या का संस्कृति से सामंजस्य

असंतुलन के दोष से बचने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादकता-तंत्र का विचार केवल अर्थशास्त्र से नहीं अपितु समग्र जीवन दर्शन की पृष्ठभूमि पर करना चाहिये। मनुष्य का विचार 'आर्थिक प्राणी' इस नाते अलग, 'राजनैतिक प्राणी' इस नाते अलग, 'सामाजिक प्राणी' इस नाते अलग—यह पद्धति अभारतीय है। मनुष्य जीवन के सभी पहलुओं का युगपद् सम्यक विचार करना—यही अपनी परम्परा है। विदेशी तंत्र विद्या अपने साथ विदेशी विचार एवं विदेशी संस्कार (*Cultural pattern*) लायेगी। वह अकेली नहीं आती। इसलिये विदेशी तंत्र-विद्या का स्वीकार करते समय तथा स्वदेशी तंत्र विद्या का विकास करते समय अपनी सांस्कृतिक परम्परा से सामंजस्य रखने का प्रयास अनिवार्यतः करना चाहिये। कोई तंत्र विद्या दूसरे किसी देश में प्रभावी सिद्ध हुई इसीलिये हम उसका सम्पूर्ण स्वागत करें—यह उचित नहीं। पश्चिम की भौतिक प्रगति से हम प्रभावित हों, इसकी आवश्यकता नहीं। मनुष्य स्वयं अपने पर विजय प्राप्त करे—वही संस्कृति है। इस संस्कृति के अभाव में भौतिक प्रगति की दृष्टि से अग्रेसर अमरीका में खूनखराबी की आत्महत्याओं की, तथा पागलपन की भयानक वृद्धि हो रही है। वाशिंग्टन के ४००० डाक्टर्स में से १५०० डाक्टर्स मानसिक रोगों के हैं। इस असंतुलन की जिम्मेवारी अमेरिका की भौतिक प्रगति की दिशा पर तथा तदन्तर्गत तन्त्र विद्या पर भी है—यह हम न भूलें। सांस्कृतिक जीवन पर होने वाला यह अपरिहार्य्य परिणाम ध्यान में रखते हुये अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की पृष्ठभूमि पर आगामी तंत्र-विद्या का विचार एवं विकास उत्पादकता-अभियान को संतुलनपूर्वक करना चाहिये। इसीमें भारत की वास्तविक स्थायी एवं चिर-कालीन प्रगति निहित है।